ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ॐ

वृन्दाविपिनविहारिणे नमः

ज्ञाननलिनविकाशिने नमः

अथ

उपासनाख्ये द्वितीयषट्के

* एकादशोऽध्यायः *

ॐ प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

(ऋ० मं० १ अ० २१ सू० १५४ मं० २)
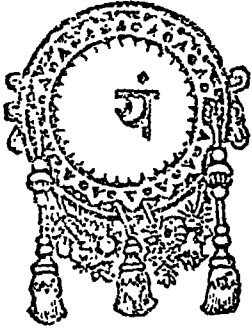
ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै
र्वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेनमनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

अजन्मा सर्वेषामधिपतिरमेयोपि जगता-
मधिष्ठाय स्वीयां प्रकृतिमिव देही स्फुरति यः ।
विनष्टं कालेन द्विविधमखृतं धर्ममनघम्
पुनः प्राहेशं तं विमलशुभदं नौमि परमम् ॥

अहा ! आज आकाशमें सूर्य्य , चन्द्र तथा तारागण एकही समय क्यों उदय होरहे हैं ? आज वायु क्यों अद्भुतरूपसे लहराती हुई बहरही है ? जिधर देखता हूं उधरहीसे एक घोर अन्धड झक्कड तथा झंझावात (तूफान)से समां बंधाहुआ देखपडता है ऐसा बोध होता है, कि उनचासों पवन एक संग मिलकर न जाने किस ओर चले जारहे हैं ? आज समुद्रमें बडवानल क्यों भडक उठा है ? अग्नि-होत्रियोंके अग्निदेव आपसे आप कुण्डोंमें क्यों प्रज्वलित होगये हैं ? दशों दिशाओंमें ज्योति ही ज्योति क्यों दीख पडती है ? नद नदियोंके जल लहरें लेलेकर और उछल२ कर आकाशकी ओर क्यों जानेकी इच्छा कररहे हैं ? आज पृथ्वी क्यों डगमगा रही है ? पुष्पवाटिका-ओंके पुष्पोंकी कलियां चटक चटक कर क्यों आपसेआप कुस-मय खिलरही हैं ? आज विश्वमात्र (पृथ्वीभर) के वृक्ष अपने फूल

फलोंको लिये हुए किसको अर्पण करनेके लिये तयार हैं ? आज इन्द्रके नन्दनवनमें कल्पवृक्ष सर्वप्रकारकी ऋद्धि सिद्धियोंको लिये क्यों खडा है ? आज ब्रह्मा अपने पद्मासनको छोड क्यों उठ खडे हुए हैं ? शिवकी समाधि क्यों टूटगई है ? इन्द्रदेव सहस्रनेत्र खोलेहुए एक ओर टकटकी लगाये क्या देख रहे हैं ? आज अप्सराएं अपनी अँगुलियोंको दाँतोंसे क्यों दबाये हुई हैं ? आज योगी, यति, तपस्वी, ऋषि, मुनि इत्यादि दोनों हाथोंको जोडे किसे आह्वाहन कर-रेहे हैं ? हो न हो आज कोई अद्भुत घटना होनेवाली देख पडती है ।

सच है वह देखो ! महाभारतकी रणभूमिमें अर्जुनकी ओर देखो ! जहां अर्जुन सच्चिदानन्द आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रसे अपनी सर्व-प्रकारकी विभूतियोंसे युक्त अपने विराट्स्वरूपके दर्शन करानेकी प्रार्थना कररहा है अनुमान होता है, कि अब थोडीही देरमें भगवान् अपने विश्वरूपको प्रकटकर अर्जुनकी अभिलाषा पूर्ण करेंगे ।

चलो ! देखो ! हमलोग भी उसी रथके समीप उपस्थित होकर इधर महाभारतके युद्धकोभी देखें और उधर जगदभिराम घनश्यामके अद्भुत विराट्स्वरूपकाभी दर्शन करें कहावत है, कि ' एकपन्थ दो काज ' किसीने कहा है, कि ' चलो सखी तहँ जाइये जहां बसैं व्रजराज । दधि वेचतमें हरि मिले एक पन्थ दो काज "

गुणमन्दिर सुन्दर दामोदर भवजलधिमथनमन्दर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्दने दशम अध्यायमें अपनी विभूतियोंका वर्णन किया और अब अर्जुनकी प्रार्थना करनेसे उनहीं विभूतियोंके सहित अपने

विराट्स्वरूपका दर्शन करावेंगे। इतना पढकर पाठकोंको परम विस्मय हुआ होगा और चित्तमें घोर शंका उत्पन्न होनेका अंकुर उदय होआया होगा तथा वे अपने मनमें यों विचार करते होंगे, कि पहलेसे तो इस गीताशास्त्रके प्रकरणकी यों रचना कीगयी है, कि इसके छः२ अध्यायोंके तीन षट्क किये गये हैं और बार बार यही दिखलाया-गया है, कि प्रथम षट्कमें भगवानने कर्मकाण्ड, दूसरे षट्कमें (७—से १२ तक) उपासना और तीसरे षट्कमें (१३—से १८ तक) ज्ञानका वर्णन किया है। इस नियमके अनुसार भगवान्को इन (१० और ११) दोनों अध्यायोंमें भी केवल उपासनाका ही भेद वर्णन करना चाहिये था तो भगवान्ने क्यों अपनी विभूतियोंका वर्णन किया? जिस कारणसे उन्हें अर्जुनके प्रति अपने विराट्स्व-रूपको दिखलानेकी आवश्यकताहुई? यह तो नियम और प्रकरण दोनोंके विरुद्ध है और असंगत है भगवानने ऐसा क्यों किया?

प्रिय पाठको! यहां शंकाका तनकभी स्थान नहीं है भगवान इन दोनों अध्यायोंमें भी उपासनाकाही अंग वर्णन कररहे हैं जो विद्वज्जन शास्त्रोंके मर्मोंको तथा भगवद्वाक्यके रहस्योंको पूर्णरूपसे समझ रहे हैं वा समझनेकी शक्ति रखते हैं वे तो अवश्य जानते होंगे, कि अधिकारीकी अपेक्षासे उपासनाके अनेक भेद हैं विश्वमात्रके उपासकोंके लिये उपासना एकही नहीं वरु इस उपासना की भी चार श्रेणियां हैं चारोंके चार प्रकारके अधिकारी हैं पर ये चारों एक ही स्थानके पहुंचने वाले हैं चार श्रेणियोंसे उनके चार स्थान वा चार प्रकारके उपास्य हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये। इसी

लिये भगवान्को विभूतियों और विराट्मूर्त्तिके दर्शन करानेकी परम आवश्यकता है। क्योंकि न जाने अपनी-अपनी रुचि अनुसार भगवान् की किस विभुति और किस मूर्तिकी ओर उपासकके चित्तका आकर्षण होजावेगा ? क्योंकि उपासनाके लिये उपास्यके गुण, रूप, लीला और धामके जाननेकी आवश्यकता है इसलिये भगवान्ने इन दोनों अध्यायोंमें पहले अपने गुण और रूपको अर्जुनके प्रति दिखलाया है क्योंकि उपासकोंको उपासना आरंभ करते ही इन दोनोंकी आवश्यकता पड़ती है इसलिये उपासनाके प्रकरणके अन्तर्गत भगवान्का अपनी विभुतियोंका वर्णन करना तथा अपने विराट्रूपका दर्शन कराना असंगत तथा प्रकरण विरुद्ध नहीं है अतएव आशा है, कि विद्वान किसी प्रकारकी शंका नहीं करेंगे।

अर्जुन उवाच—

मू०— मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

पदच्छेदः— [हे भगवन् !] मदनुग्रहाय (ममशोकनिवृत्त्युपकाराय) त्वया, यत् परमम् (अतिशयं परमार्थनिष्ठं तथा शोकमोहनिवर्त्तकत्वेनोत्कृष्टम्) गुह्यम् (गोप्यम् यस्मैकस्मैचिद्वक्तुमनर्हम्) अध्यात्मसंज्ञितम् (आत्मानात्मविवेकविषयम्) वचः (वाक्यम्) उक्तम् (कथितम्) तेन, अयं, मम, मोहः (अविवेकबुद्धिः) विगतः (अपगतः । विनष्टः) ॥ १ ॥

पदार्थः— अब अर्जुन बोला हे भगवन् ! (मदनुग्रहाय) मेरे उपकारकेलिये (त्वया) आपके द्वारा (यत्, परमम्) जो परमश्रेष्ठ परमात्मनिष्ठ (गुह्यम्) अत्यन्तगोपनीय (अध्यात्मसंज्ञितम्) आत्मा अनात्माके विवेक करनेके विषय (वचः) वचन (उक्तम्) कहागया (तेन) तिससे (अयं, मम) यह मेरा (मोहः) अज्ञान (विगतः) नष्ट होगया ॥ १ ॥

भावार्थः— अर्जुनको भगवानने दशवें अध्यायमें जो अपनी नाना प्रकारकी विभूतियोंका परिचय करातेहुए अन्तमें यह कहा, कि " विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् " मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी विभूतियोंके महान् सागरस्वरूपके एक अंशसे अर्थात् एके बूंदसे धारणकर स्थित हूं यह सुनकर अर्जुनके हृदयमें जो अपने वान्धवोंके बध करनेका शोक वा मोह होरहा था वह तो नष्ट होगया और एकाएक भगवत्के ऐसे महान् स्वरूपके दर्शन करनेकी अभिलाषा होआयी अर्थात् किस प्रकार भगवत्ने इस सम्पूर्ण जगत्को अपने एक अंशमें धारण करेरखा है ऐसे स्वरूपके देखनेकी इच्छा उत्पन्न होआयी । भगवान्से अपने विश्वधारण करनेवाले स्वरूपके दर्शन करानेकी प्रार्थना करताहुआ कहता है, कि [मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्] हे भगवन् ! केवल मुझपर अनुग्रह करनेके तात्पर्य्यसे अर्थात् मुझको जो अपने वान्धवोंको सम्मुख देखकर इस युद्धके सम्पादनमें परम शोक उत्पन्न हुआ था उसके दूर करनेके लिये जो यह रहस्य जिसको बडे २ ज्ञानी तथा

ऋषि महर्षियोंने अनधिकारियोंके प्रति गुप्त रखा किसीसे भी प्रकट नहीं किया उसे आपने मुझ दीन अर्जुनपर प्रकट किया है ॥ १ ॥

अर्जुनके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो वार्ता अध्यात्म सहित है अर्थात् जिसमें आत्मा और अनात्माके जाननेके रहस्य भरेहुए हैं जिसे केवल वे ही प्राणी समझ सकते हैं जो जिज्ञासु हैं मुमुक्षु हैं, जिनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठिता है, जो द्वन्द्वातीत हैं, विमत्सर हैं, सिद्ध, असिद्ध, मान, अपमान, जय और अजयमें समबुद्धि हैं, कामक्रोधवियुक्त हैं, मोक्षपरायण हैं, अनन्यचेतस हैं अर्थात् जो भगवत्स्वरूपके अतिरिक्त क्षणमात्र भी किसी अन्य विषयकी ओर चित्त को नहीं लेजाते ऐसे गुणोंसे युक्त प्राणीको इस गुप्त विद्याको कहना चाहिये। पर हे भगवन् ! यद्यपि मुझमें इन गुणोंमेंसे एक गुण भी नहीं पायाजाता तथापि तुमने कृपा करके मुझे इस रहस्यका उपदेश किया और अपने मुखसे नवें अध्यायके आरम्भमें यह कहा, कि "इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे" अर्थात् मैं तुझ असूया-दोषरहित अर्जुनके लिये यह रहस्य कहूंगा सो हे भगवन् ! जैसी तुमने प्रतिज्ञा की वैसी ही मेरे ऊपर कृपाकर यह गुप्त आत्मसंज्ञित वार्ता मुझसे कही इसलिये हे भगवन्! [यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम] जो वार्ता तुमने मुझसे कही उससे मेरा मोह नाश को प्राप्त हुआ।

अर्जुनके कहनेका तात्पर्य यह है, कि यद्यपि इस आत्मसंज्ञित गुप्त रहस्यका मैं अधिकारी नहीं था तथापि दयासागरने मुझे परम

दुखिया देख अपनी ओरसे दया करके इस आत्म अनात्मके विचारसे भराहुआ गुप्त वचन मेरे लिये कथन किया ॥ १ ॥

भगवान्ने कौन-कौनसी बार्ताएं कहीं सो अर्जुन अगले श्लोक में कहता है—

मू०--- भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥
॥ २ ॥

पदच्छेद:-- [हे] कमलपत्राक्ष ! (कमलस्य पत्रे इव सुप्रसन्ने विशाले परममनोरमे अक्षिणी नेत्रे यस्य सः तत्सम्बुद्धौ हे कमलपत्राक्ष !) भूतानाम् (अकाशादिकार्य्याणाम् तथा चराचराणाम) भवाप्ययौ (उत्पत्तिप्रलयौ) हि, त्वत्तः, मया (अर्जुनेन) विस्तरशः (पुनः-पुनः विस्तरेण) श्रुतौ, अव्ययम् (न विद्यते व्ययो नाशः यस्य तत् अव्ययम्) माहात्म्यम् (महदैश्वर्य्यम्) अपि, च [मया श्रुतम्] ॥ २ ॥

पदार्थः— (कमलपत्राक्ष !) हे कमलनयन ! (भूतानाम्) आकाशादि पञ्च भूतोंका तथा चराचर जीवोंका (भवाप्ययौ) उत्पत्ति और प्रलय (हि) निश्चयरूपसे (त्वत्तः) तुम्हारे द्वारा (मया) मुझसे (विस्तरशः) विस्ताररूपसे (श्रुतौ) सुनेगये तथा तुम्हारा (अव्ययम) नाशरहित (माहात्म्यम्) परम ऐश्वर्य (अपि, च) भी मुझसे (श्रुतम्) सुनागया । अर्थात् तुमने जो विस्तारपूर्वक भूतोंकी उत्पत्ति तथा अपने महान् ऐश्वर्योंको मुझसे कहा उनको मैंने पूर्णप्रकार ध्यान देकर श्रवण किया ॥ २ ॥

भावार्थ— अब अर्जुन भगवान्‌के रूपके दर्शन करनेकी अभिलाषासे प्रेमपूर्वक भगवानके सौन्दर्यका संकेत करताहुआ जो उनको (कमलपत्राक्ष) कहकर पुकारता है तिसके अनेक भाव हैं जो भक्तोंके प्रेमकी वृद्धि निमित्त यहां वर्णन करदिये जाते हैं—

प्रथम भाव— जैसे सरोवरोंमें खिलेहुए कमलपत्र प्राणियोंके चित्तको प्रसन्न करते हैं और अपनी-अपनी अरुणाईसे परम मनोहर देखपडते हैं इसी प्रकार भगवानके अरुण नेत्र भी परम सुहावने और मनके हरण करनेवाले देखपडते हैं। अर्थात् जैसे कमलपत्रकी तिरछौंही नोकीलीसी काट जडमें कुछ वर्तुलाकार होकर दोनों ओरसे तिरछी होतीहुई एक नोकीलीसी बनी हुई देखपडती है इसी प्रकार भगवान्‌के नेत्रोंकी तिरछौंही काट बनती हुई जिसके हृदयमें जा चुभी वह रूपमकरन्दकी गंध लेने वाला भगवत्प्रेममें अहर्निश मग्न होगया।

द्वितीय भाव— जैसे कमलपत्र एक ओर उठेहुएसे ऊंचे रहते हैं इसी प्रकार भगवानके सुन्दर नेत्र भी कुछ ऊपरको उठेहुए और ऊंचे हैं क्योंकि कमलपत्रको छोडकर अन्य किसी पत्रमें ऐसी विचित्रता नहीं पायी जाती।

तृतीय भाव— यदि शंका हो, कि श्यामसुन्दरके तो अंग २ नाना प्रकारके सौन्दर्यसे भरेहुए हैं फिर अर्जुनने अन्य किसी अंगका नाम न लेकर केवल नेत्रहीकी शोभा क्यों वर्णन की ? तो उत्तर इसका यह है, कि शरीरमें जितने अंग हैं सब शोभायमान तो हैं पर चेतनताका सूचन करने वाला केवल एक नेत्र ही है। अन्य सब अंग जडवत् शान्त पडे रहते हैं उनमें हिलने डोलनेकी शक्ति नहीं है। जैसे केश, कान,

नाक, कपोल, भ्रू, अधर, चिबुक, ग्रीव, हृदय, कटि इत्यादि। यदि इन्हींके समान नेत्र भी निश्चेष्ट और गतिहीन होजावें तो प्राणी मृतक समझाजावेगा। केवल दोनों नेत्र ही शरीरमें चल हैं। नेत्रोंसे ही प्राणियोंके हृदयकी गति जानी जाती है और जीवित रहनेका संकेत प्राप्त होता है। करुणा, दया, क्रोध, प्रसन्नता, अप्रसन्नता और प्रेम इत्यादिकी गति नेत्रसेही लखपडती है कान, नाक, केश इत्यादिसे मनोगति लखनेमें नहीं आती। तथा अनेक प्रकारके अद्भुत २ दृश्य इन्हीं नेत्रोंसे देखनेमें आते हैं अतएव अर्जुनने भगवानके कमल नयनोंकी अपूर्व शोभाका वर्णन किया।

जब किसीको किसीसे प्रेम होता है तो यही कहा जाता है, कि अमुक २ प्राणियोंकी आंखें परस्पर लडगयी हैं, कान लडगये अथवा नाक लडगयी ऐसा नहीं कहा जाता। फिर ऐसा भी कहते हैं, कि अमुक प्राणीके नेत्रोंमें अमुकके नयन प्रवेश करगये हैं। जैसे किसी प्रेमीका वचन है, कि "पडी कंकडी नैनमें नैन भये बेचैन। वे नैना कैसे जिवैं जिन नैननसें नैन"। इसी कारण अर्जुनने सब अंगोंको छोड पहले पहल भगवान्के नेत्रहीकी स्तुतिकी।

चौथा भाव— जैसे कमलपत्र दिवसके आगमनसे खिलजाता है और रात्रिके आगमनसे संपुटित होजाता है अर्थात् कमलके पत्रोंका खिलना दिवसका आगमन और संपुटित होना रात्रिका आगमन सूचित करता है इसी प्रकार भगवत्के नेत्र खुलनेसे सृष्टिरूप दिवसका आगमन और संपुटित होनेसे प्रलयरूप रात्रिका आगमन सूचित करते हैं।

पांचवां भाव— अर्जुन अपने मनहीमन भयसे कम्पित होरहा है, कि मैं भगवान् त्रिलोकीनाथके सम्मुख, कि जिनके भयसे तीनों लोक कम्पायमान होरहे हैं ढिठाईकर रूप दिखला देनेकी प्रार्थना कैसे करूं। क्योंकि लक्ष्मी जो साथ२ निवास करती है सनत्कुमार, नारद, च्यवन, अंगिरा, वशिष्ठ, गोकुलनिवासी गोप, गोपी, नन्द, यशोदा, प्रह्लाद, ध्रुव इत्यादि जो भगवान्के परम प्रिय होचुके हैं इनमेंसे भी किसीको ऐसे गुप्त स्वरूपको प्रकट कर दिखलानेके लिये प्रार्थना करनेका साहस न पडा फिर मुझमें क्या विशेषता है, कि मैं आज इस घोर आपत्तिके समय श्रीआनन्दकन्दसे गुप्त विश्वरूपको दिखलानेकी प्रार्थना करूं। भगवान् मेरी ऐसी ढिठाई देख कहीं कुपित न होजावें इसी कारण भगवानके नेत्रोंकी ओर देखने लगा और विचारने लगा, कि भगवान् जो अन्तर्यामी सबके हृदयकी गति जाननेवाले हैं अवश्य मेरे हृदयकी गति भी जानगये होंगे। एवम्प्रकार भगवत्के नेत्रोंकी ओर देखते ही समझ गया, कि इस समय भगवान् बडी कृपादृष्टिसे मेरी ओर देखरहे हैं। जैसे कमलपत्र सूर्य निकलते ही बडी प्रसन्नताको सूचित करता हुआ खिलखिलाकरे हंस पडता है ऐसे ही भगवत्के नेत्र मेरी ओर बडी प्रसन्नताको प्रकट कररहे हैं। ऐसा विश्वास होता है, कि भगवान् मेरी अभिलाषा अवश्य पूर्ण करेंगे इसीलिये अर्जुन अपनी दृष्टिको भगवान्की दृष्टिसे क्षणमात्र मिलाकर प्रेमसे प्रफुल्लित हो झट 'कमलपत्राक्ष' कहकर सम्बोधन करता है।

छठाभाव— अर्जुन मनहीमन यह विचाररहा है, कि भगवान् जो अपने मुखारविन्दसे ऐसा कहचुके हैं, कि "यच्चापि सर्वभूतानां बीजं

तदहमर्जुन । न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ” (अ० १० श्लो० ३९) अर्थात् विश्वमात्रका बीज मैं ही हूं मेरे विना कुछभी नहीं है । फिर कहा है, कि “ विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ” (अ० १० श्लो० ४२) अर्थात् मैं अपनी महान् अनन्त विभूतियोंके एक अत्यन्त छोटे अंशमें इस सम्पूर्ण जगत्को धारणकर स्थितहूं । एवम्प्रकार भगवानके वचनोंको सुन अर्जुनको अभिलाषा उत्पन्न होआयी है, कि जिन महान् ऐश्वर्य्योंके विषय भगवान्‌ने मुझसे स्वयं कहा है और मैंने केवल श्रवणगोचरही किया है तिनके स्वरूपोंका तो इन नेत्रोंसे दर्शन नहीं किया और विना उस रूपके देखे चित्तको चैन नहीं है यदि नहीं देखूँगा तो इसी समय मेरे शरीरकी दुर्दशा होपडेगी । भगवान् अर्जुनके चित्तकी ऐसी दशा जान जैसे कमलोंकी विकसित छटासे प्रसन्नता प्रगट होती है ऐसे अन्तर्यामी अपने प्रफुल्लित कमलनेत्रोंसे अर्जुनकी ओर देख अपनी प्रसन्नता प्रगट करने लगे । मानों नेत्रोंकी चालसे अर्जुनके हृदयमें ऐसा सूचित करदिया, कि जो कुछ तेरी अभिलाषा है उसे मैं अवश्य पूर्ण करूंगा इसलिये अर्जुन नेत्रोंकी ऐसी प्रसन्नमयी छटा देखकर झट कमलपत्राक्ष कहपडा ।

सातवांभाव— कमलपत्राक्ष कहनेका यह है, कि ‘कः’ कहिये आत्माको इसलिये (कः) जो आत्मा तिस आत्माको (अलति) भूषित करता है अर्थात् ज्ञान करके जो सुशोभित करता है उसे कहिये ‘ कमल ’ सो कमल अर्थात् आत्मज्ञान जिस कागदपर लिखाजावे उसे कहिये ‘ कमलपत्र ’ और पत्र शब्दका अर्थ यह है, कि (पात्यते

स्थानात् स्थानान्तरं समाचारोऽनेनेति पत्रम्) एक स्थानसे दूसरे स्थानको जो समाचार लेजावे उसे कहिये पत्र। सो भगवान्के जो नेत्र हैं वे मानो आत्मज्ञानके पत्र हैं जो ज्ञानतत्त्वरूप समाचारोंको भक्तोंके हृदयमें लेजाते हैं अर्थात् भगवान् जिसकी ओर एकबार भी अवलोकन करते हैं उसके हृदयमें संपूर्ण आत्मज्ञानका प्रकाश होजाता है मानो वह प्राणी भगवत्के नेत्रसे ही सर्व निगमागमादिको पढलेता है सो अर्जुनके लिये तो ये नेत्र इस युद्धके समय आत्मज्ञानके पत्र ही होरहे हैं। इसी कारण भगवान्को अर्जुनका कमलपत्राक्ष कहकर पुकारना सांगोपांग उचित है।

भगवान्के नेत्रोंकी शोभा उक्त प्रकार सूचित करताहुआ अर्जुन कैसे बोलउठा, कि [**भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया । त्वत्तः कमलपत्राक्ष !**] हे कमलपत्राक्ष ! मैंने भूतोंकी उत्पत्ति और विनाश दोनों विस्तारपूर्वक तुमसे सुने। क्योंकि हे जगत-सुन्दर! तुमने मुझे अपना प्रिय सखा जानकर मुझसे कुछ भी गुप्त नहीं रखा। जो-जो बार्त्ताएं मैंने तुमसे पूछीं तुमने उन्हें विलग-विलग कर पुनः पुनः बडी श्रद्धा और रुचिसे मुझे सुनादी। जैसे धुनेरा रुईको तनक-तनक कर बिलग-बिलग धुनडालता है ऐसे हे भगवन् ! तुमने प्रत्येक विषयोंको विलग-विलग धुन-धुनकर मुझे सुनादिया और मैंने पूर्णप्रकार ध्यान देकर एकाग्रचित्त हो श्रवण किया है। हे भगवन् ! जैसे सर्वसाधारण किसी उपदेशको श्रवण कर इस कानसे सुन दूसरे कानसे निकाल देते हैं ऐसा मैंने नहीं किया। हे केशव ! मुझे तो तुम्हारे वचन एक-एक कर स्मरण हैं और वे मेरे हृदयमें ऐसे चुभगये हैं, कि युग-युगान्तरमें भी निकाले न निकलेंगे। तुमने जो मुझे "न जायते म्रियते

वा" तथा "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः" (देखो अ० २ श्लो० २०, २३) कहकर आत्माकी नित्यता तथा अविनाशित्व बतलाया फिर " स्वधर्ममपि चावेक्ष्य " तथा " सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ ! " (देखो अ० २ श्लो० ३१, ३२) कहकर क्षत्रियोंके परम धर्मका उपदेश किया फिर " योगस्थः कुरु कर्माणि " संगं त्यक्त्वा धनंजय ! " कहकर मुझे निष्कामकर्मोंके सम्पादन करनेकी आज्ञा दी फिर जब मैंने तुमसे यह पूछा, कि ' स्थितप्रज्ञस्य का भाषा ' (देखो अ० २ श्लो० ५४) तब तुमने मुझे " प्रजहाति यदा कामान् " इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः " (देखो अ० २ श्लो० ५५से ५८ तक) इत्यादि वचनोंको कहकर स्थितप्रज्ञोंका लक्षण उपदेश किया, फिर " ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते " (देखो अ० ३ श्लो० १) इस प्रश्नके पूछनेपर तुमने कर्म और सन्न्यासयोगका वर्णन विस्तारपूर्वक किया और जब दोनोंकी स्तुति सुनकर शंका हुई तो फिर तुमसे पूछा, कि "सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगञ्च शंससि " (देखो अ० ५ श्लो० १) तब तुमने " सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति " तथा " यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानम् " फिर " ब्रह्मण्याधाय कर्माणि " और "विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे " (देखो अ० ५ श्लो० ४, ५, १०, १८) इन वचनोंको कहकर मुझे सांख्य और योगका अभेद दिखलाया और मेरी बुद्धि स्थिर करदी । फिर तुमने " अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा " " मत्तः परतरं नान्यत् " " रसोऽहमप्सु " "बीजं मां सर्वभूतानाम्" (देखो अ० ७ श्लो० ६, ७, ८, ११, १८) इत्यादि वचनोंसे अपनी अतुल महिमा वर्णनकी ।

फिर हे भगवन् ! तुमने जो मुझे अध्यात्म, अधिभूत और अधियज्ञका उपदेश किया (देखो अ० ८) तथा देवयान और पितृयान इत्यादि मार्गोंका उपदेश किया (देखो अ० ८ श्लो० २४ से ३६ तक) और हे भगवन् ! जो तुमने मुझे गुह्यतम राजविद्याका उपदेश किया (देखो अ० ९) फिर हे भगवन् ! मेरे इस प्रश्नपर, कि " वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः" तुम अपनी विभूतियोंको मुझे पूर्णरूपसे कहो तिसके उत्तरमें तुमने " अहमात्मा गुडाकेश " से " विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम् " (अ० १० श्लो० २० से ४२ तक) इत्यादि वचनोंतक अपनी दिव्य विभूतियोंका उपदेश किया ।

अब अर्जुन कहता है, कि [माहात्म्यमपि चाव्ययम्] तुमने अपने अव्यय माहात्म्यको अर्थात् अक्षय महा ऐश्वर्य्योंका वर्णन किया है सो मैंने विस्तारपूर्वक श्रवण किया ।

शंका— भगवान्ने तो अपने मुखारविन्दसे कहा है, कि हे अर्जुन ! मैंने अपने महान ऐश्वर्य्योंको तुझसे अत्यन्त संक्षिप्तकरके कहा है क्योंकि भगवान् अ० १० के अन्तमें अर्जुनसे कहचुके " एष तूद्देशतः प्रोक्तः " (अ० १० श्लो० ४०) अर्थात् मैंने अपनी विभूतियोंके विस्तारके कारण संक्षेपकरके तुझसे कहा और इस श्लोकमें अर्जुन कहता है, कि "श्रुतौ विस्तरशो मया" मैंने विस्तारपूर्वक सुना। तोकहनेवाला कहता है, कि मैंने संक्षेपसे कहा और सुनने वाला कहता है, कि मैंने विस्तारसे सुना ये दोनों बातें परस्पर टकराती हैं और इनसे गीताशास्त्रमें अन्योन्य विरोधका दोष लगता है ऐसा क्यों ?

समाधान— भगवान्‌की दृष्टिमें तो अपना वचन संक्षिप्त ही है पर अर्जुनके लिये तो बहुतही विस्तार है क्योंकि गंगा और यमुना इत्यादि सरिताओंमें तो अमोघ जल राशिका प्रवाह चलरहा है पर प्यासेकी पिपासा (प्यास) शान्त करनेकेलिये तो उनमेंसे एक कमण्डल ही बहुत है । स्वातिकी वर्षामें तो अनगिनत बूंदें आकाशसे पृथ्वीपर पडती हैं पर चातक (पपीहा) के लिये तो दोचार बूंद ही बहुत हैं । फिर किसीने कहा है— " हस्तीमुखसे कण गिरै घटै न तासु अहार । सो लेचली पिपीलिका पालनको परिवार " अर्थात् हस्तीका जो मनों अन्न आहार है उसमेंसे एक कणमात्र जो उसके मुखसे गिरा तो उसे चींटी अपने परिवार पालन निमित्त लेचली ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जैसे हस्तीके मुखका एक कणमात्र अन्न चींटीके लिये बहुत है इसी प्रकार भगवत्‌के मुखारविन्दसे एक कणमात्र ब्रह्मज्ञान अर्जुनके लिये बहुत है इसलिये अर्जुनने "विस्तरशो मया" कहा इसमें शंकाका कोई स्थान नहीं है ॥२॥

अब अर्जुन डरते २ बहुतही धीमी और दबीहुई जिह्वासे कहता है—

मू०— एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ! ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ! ॥ ३ ॥

पदच्छेदः— [हे] परमेश्वर ! (सर्वस्वामिन् !) यथा (येन प्रकारेण) आत्मानम् (स्वस्वरूपम) त्वम्, आत्थ (कथयसि) एतत् एवम् (यथातथम । नान्यथा) [हे] पुरुषोत्तम ! (जगन्नाथ ! पुरुषशार्दूल !) ते, ऐश्वरम् (ज्ञानैश्वर्य्यशक्तिबल-

वीर्यतेजोभिः सम्पन्नम्) रूपम् (अद्‌भुतस्वरूपम्) द्रष्टुम् (अवलोकयितुम्) इच्छामि (अभिलषामि) ॥ ३ ॥

पदार्थः— [हे] (परमेश्वर !) त्रिलोकीके स्वामी (यथा) जिस प्रकार (आत्मानम्) अपनेको (त्वम्) तुम (आत्थ) कहते हो (एतत्, एवम्) यह सब ज्योंका त्यों यथातथ्य है तनक भी शंका करनेयोग्य नहीं है पर (पुरुषोत्तम !) हे जगन्नाथ ! पुरुषशार्दूल ! सर्वज्ञ ! (ते, ऐश्वरम्) तुम्हारे ज्ञान, ऐश्वर्य्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे सम्पन्न (रूपम) अद्‌भुतरूपको (द्रष्टुम्) देखनेकी (इच्छामि) मैं इच्छा रखता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन मारे संकोचके भयभीत हो अपनी ढिटाईपर लज्जित हो भगवत्स्वरूपके दर्शन करनेकी इच्छासेकहता है, कि [**एवमेव यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर!**] हे परमेश्वर ! तुम अपनेको जिस प्रकार कहरहे हो वह ज्योंका त्यों अर्थात् यथातथ्य है ।

यहां परमेश्वरे कहकर जो अर्जुनने भगवान्‌का सम्बोधन किया इसका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो सबोंका ईश्वर होता हैं उसको किसी भी अन्य देवता देवीका भय नहीं । वह तो स्वतंत्र होता है जो चाहता है करता है । जैसे कोई महाराजाधिराज एक अत्यन्त दरिद्रको अपना सर्वस्व देदेवे तो अन्य कोई उसकी इच्छामें बाधा करनेवाला नहीं है । सो अर्जुन अपने मनमें विचार कररहा है, कि जिस रूपको भगवान्‌ने बडे-बडे तपस्वियों और योगियोंको भी शीघ्र नहीं दिखलाया

तिस रूपको मुझ एक बालकके लिये जिसने अभीतक तपोयोगका नाम भी नहीं जाना, जिसने अपना बालकपन राज्यसुखमें बिताया और द्वादशवर्ष पर्यन्त घोर बनवासके दुःखमें नाना प्रकारके क्लेशोंको सहता रहा सो अब राज्यके लोभसे संग्राममें आपडा है तो ऐसे संस्कार-हीन अनधिकारीको विश्वम्भर यदि अपना विश्वरूप प्रकट करदिखावें तो उन्हें कौन रोकसता है ?

ऐसा विचार भगवानको परमेश्वर शब्दकरके सम्बोधन करता हुआ कहता है, कि जो कुछ तुमने अपने विषय मेरे प्रति कहा अर्थात् सम्पूर्ण संसारका बीज होना तथा अपनी विभूतिके एक अंशमा-त्रमें सम्पूर्ण विश्वको धारण करना इत्यादि वर्णन किया सो सब यथार्थ हैं उनके सत्य होनेमें तनक भी सन्देह नहीं है। मुझको तो पूर्ण विश्वास है क्योंकि ये सब बातें तुमने अपने मुखारविन्दसे मेरे प्रति कही हैं और उसीके साथ यह भी मुझे कहा है, कि 'न मे विदुः सुरगणाः' (अ० १० श्लो० २) मुझे कोई देव अथवा ऋषि, महर्षि यथार्थ-रूपसे नहीं जानता । इस वचनसे सिद्ध होता है, कि हे भगवन् ! तुम अपनेको आपही जानते हो। क्योंकि व्यासदेव आदि महर्षि जब राज-महलके समीप जाकर ज्ञानकी बातें सुनाया करते थे उस समय मैं इनकी बातोंको श्रद्धापूर्वक नहीं सुनता था और न इनके वचनोंका कुछ मुझपर प्रभाव ही पडता था। क्योंकि एक तो मैं बालक था दूसरे राज्यसुखमें भूला हुआ था पर अब इस युद्धके उपस्थित होनेसे मुझे दो आंखोंके स्थानमें चार आंखें होगयी हैं और सब बातें (लौलिक-पारलौकिक) जाननेकी चिन्ता होआयी है। अब मेरा धन्यभाग

है, कि ठीक समयपर मुझे तुम्हारे ऐसे गुरुदेवका लाभ हुआ है। सच है! जब क्षेत्रमें बीज बोयाजाता है और वह कुछ उगकर पानीके लिये आकाशकी ओरे देखता है तब उस समय जलकी वर्षा अधिक लाभदायक होती हैं सो हे भगवन्! इस स्थपर तुम्हारा यह उपदेश मुझे क्यों न लाभदायक होगा। हे जगदभिराम! घनश्याम! तुम्हारा कहना सांगोपांग यथार्थ है पर [**द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम!**] हे पुरुषोत्तम! जिस प्रकारे तुमने अपने रूपका कथन किया उसे मैं अब उनही विभूतियोंके साथ देखनेकी इच्छा रखता हूं। सो कृपाकरे मुझे अपने उस अद्भुतस्वरूपका दर्शन करादो ॥ ३ ॥

अब अर्जुन अपनी ढिठाईपर लज्जित हो विचारने लगा, कि मैंनें आनन्दकन्दसे रूप दिखलानेकी प्रार्थना तो करदी है पर न जाने मैं उस रूपका तेज संभाल सकूंगा वा नहीं? इसलिये मस्तक झुकाये भगवान्से फिर प्रार्थना करता है।

मू०— मन्यसे यदि तच्छक्यं मयाद्रष्टुमिति प्रभो!।
योगेश्वर! ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

पदच्छेदः— [हे] प्रभो! (स्वामिन्!) यदि, तत्, मया (अर्जुनेन) द्रष्टुम् (चाक्षुषज्ञानविषयीकर्तुम्) शक्यम् (योग्यम्) इति, मन्यसे (चिन्तयसि) ततः (तर्हि) [हे] योगेश्वर! (सर्वेषामणिमादिसिद्धिशालिनां योगिनामीश्वर!) त्वम्,

मे, अव्ययम् (अक्षयम्) आत्मानम् (निजस्वरूपम्) दर्शय (दृष्टिगोचरं कारय) ॥ ४ ॥

पदार्थः— (**प्रभो !**) हे सबके स्वामी ! (**यदि**) जो (**तत्**) वह तुम्हारा स्वरूप (**मया**) मुझ अर्जुनसे (**द्रष्टुं, शक्यम**) देखेजाने योग्य है अर्थात् यह अर्जुनने तुम्हारे उस अद्भुत स्वरूपको देखनेकी शक्ति रखता है (**इति, मन्यसे**) ऐसा यदि तुम समझते हो (**ततः**) तब तो (**योगेश्वर !**) हे योगियोंके ईश्वर (**त्वम**) तुम (**मे**) मेरे लिये (**अव्ययम**) नित्य अक्षय (**आत्मानम**) अपने स्वरूपको (**दर्शय**) दिखलादो ॥ ४ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन अपनी ढिठाईपर लज्जित हो मस्तक झुकाये विचार करने लगा, कि मैंने श्रीआनन्दकन्द व्रजचन्दसे रूप दिखानेकी प्रार्थना तो करदी है पर न जाने उस रूपको देखनेमें मैं समर्थ हूं वा नहीं। सम्भव है, कि उस रूपका तेज मैं न संभाल सकूं। जैसे सूर्यदेव यदि आकाशसे उतरकर पृथ्वीपर आजावें तो सारी पृथ्वी भस्म होजावेगी सब जीव-जन्तु तथा मनुष्य एकबारेगी नष्ट होजावेंगे। विद्युत् यदि आकाशसे पृथ्वीपर उतरकर किसीके घरमें चमक उठे तो उसकी आंखें फटजावेंगी। इसी प्रकार यदि मैं भगवत्स्वरूपके तेजके संभालनेयोग्य न रहूंगा तो मेरा सर्वनाश होजावेगा। इसी कारण भयभीत होकर बोलउठा, कि [**मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो !**] हे प्रभो ! हे जगत्-स्वामिन् ! संपूर्ण विश्वकी रक्षा करनेवाले यदि तुम मुझ अर्जुनको अपने उस विश्वरूपका तेज संभालने योग्य जानते हो अर्थात् जो

तुम ऐसा समझते हो, कि अर्जुन तुम्हारे स्वरूपके देखनेका अधिकारी है और देखसकता है तब तो [योगेश्वर! ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्] हे योगियोंके ईश्वर! अपने सर्वयोगसिद्धिसम्पन्न अविनाशी नित्य और निर्विकार स्वरूपको दिखादो।

यहां अर्जुनने प्रभो और योगेश्वर दो सम्बोधनोंसे भगवान् को पुकारा है इसका कारण यह है, कि जो सबोंका प्रभु अर्थात् स्वामी होता है उसे अपने शरणागतोंकी हानिलाभकी चिन्ता अवश्य होती है सो यदि भगवान् मेरी कुछ हानि देखेंगे तो अवश्य उस हानिको अपनी कृपादृष्टिसे मेटकर मुझे अपना स्वरूप दिखलावेंगे। स्वामियोंका यही विशेष धर्म है इसीलिये अर्जुनने "प्रभो" ऐसा शब्द प्रयोग किया है। फिर "* योगेश्वर" कहनेका भाव यह है, कि जो साधारण योगी होते हैं वे अपने योगवलसे निज शिष्योंको अद्भुत और आश्चर्य्यमयी लीला दिखादिया करते हैं। जैसे भरद्वाज योगीने जब अपने आश्रममें श्रीरघुकुलमणि रामचन्द्रके लघु भ्राता भरतजीकी पहुनाई की है तो उस समय उन्होंने अपनी सिद्धियोंके वलसे जितनी वस्तुओंकी आवश्यकता थी सब एकत्रकर दिखलायी। अर्थात् उस सघन वनको नन्दन वनके समान अनेक अपूर्व वैभवोंसे ऐसा सम्पन्न करदिया, कि अयोध्यानिवासी अवधके सारे विभव भूलगये। भला बताइयेतो सही, कि एक वनवासी योगीमें जब इतनी सिद्धिकी प्राप्ति देखीजाती है तब भगवान् जो साक्षात् योगियोंके शिरमौर,

* योगिनो योगास्तेषामीश्वरो योगेश्वरः (शंकरः)

योगियोंके ईश्वर योगेश्वर ही कहेजाते हैं क्या अर्जुनके मनकी गति जान अपनी योगमयी विभूतियोंको न दिखलासकेंगे ? अवश्य दिखलावेंगे। क्योंकि वे तो जगत्स्वामी हैं सबपर उनकी समान दया है जिस समय उनकी दया उमडती है तो जिसे जो नहीं देना चाहिये उसेभी वे वही देदेते हैं वे तो बिना मांगे भक्तोंको उनकी इच्छासे भी अधिक देदेते हैं। देखो ! सुदामा ब्राह्मणको बिना मांगे स्वर्ग के सदृश सम्पत्ति प्रदान करदी। क्या स्वप्नमें भी कभी सुदामाने भगवान् से इतनी सम्पत्तिकी अभिलाषा की थी ? कदापि नहीं। देखो ! उत्तानपादका पुत्र ध्रुव जिसने केवल पिताकी गोदमें बैठतेहुए अपनी सौतेली माता द्वारा उठादिये जानेपर वनमें जा भगवान्की शरण ली तो उसे भगवान्ने अटल स्थान प्रदान किया जो आजतक ध्रुवलोकके नामसे प्रसिद्ध है।

देखो ! विभीषणको रावणके रहते लंकाके अधिपति होनेका तिलक देदिया। इसी कारण तो शास्त्रोंने आपका नाम 'वाञ्छातिरिक्तप्रद' कहा अर्थात् जो इच्छासे भी अधिक देवे।

प्रिय पाठको ! श्रीगोलोकबिहारी जगतहितकारीकी उदारताका उमडना मेघमालाके समान है, अर्थात् जब भगवत्का हृदयाकाश दयासे उमडने लगता है तब सर्वत्र एक समान सबोंके लिये विपुल दयाकी वारिधारा बहाकर अनगिनत प्राणियों का शुष्क हृदयक्षेत्र बिनामांगे भर देता है। अरे ! औरोंको तो कौन पूछे जो अपने सम्मुख आयेहुए विरोधियोंको दीन और अज्ञानी जानकर

मोक्षकी पदवी प्रदान करता है। जैसे पूतना राक्षसी जो स्तनमें विष लगाकर आपको मारने आयी तथा तृणावर्त्त, अघासुर, बकासुर, इत्यादि राक्षस जो आपके मारनेके तात्पर्यसे आये उन्हें भी आपने मुक्ति प्रदान की। शिशुपाल जिसने मध्य सभामें आनन्दकन्दको सैकडों गालियां सुनायी उसे भी मोक्षपद प्रदान किया। कहां तक कहूं कहांतक गिनाऊं धन्य है आपकी भक्तवत्सलता। क्यों न हो वाहरे भक्तवत्सल! आपकी भक्तवत्सलता ऐसी उमडी, कि यहां भी अर्जुनके प्रति यों कह पडे ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच।

मू०— पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

पदच्छेदः— [हे] पार्थ! (पृथापुत्रार्जुन!) नानाविधानि (अनेकप्रकाराणि) नानावर्णाकृतीनि (नीलपीतादिप्रकारा वर्णा विलक्षणास्तथाकृतयोऽवयवसंस्थानविशेषा येषां तानि) च, दिव्यानि (अलौकिकानि अप्राकृतानि) शतशः (अनेकशः) अथ, सहस्रशः (अपरिमितानि) मे, रूपाणि, पश्य (अवलोकय) ॥ ५ ॥

पदार्थः—(पार्थ!) हे पृथापुत्र अर्जुन! (नानाविधानि) अनेक प्रकारके (नानावर्णाकृतीनि) नीले, पीले, अरुण, श्वेत इत्यादि अनेक वर्ण, मोटी, पतली अनेक आकृतिवाले (च,

दिव्यानि) और अलौकिक (शतशः) सैकडों (सहस्रशः) हजारों (मे रूपाणि) मेरे रूपोंको (पश्य) देख ! ॥ ५ ॥

भावार्थः-- अहा ! वह देखो ! श्रीभक्तवत्सल भगवान्‌की ओर देखो ! रथके ऊपर अर्जुन ऐसे अपने परमप्रिय भक्तको अति नम्रता तथा अपने विश्वरूपके दर्शनका परमअभिलाषी जान जब आपकी भक्तवत्सलता उमडी है तो कैसे झट बोलउठे हैं, कि [**पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः**] हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! तू मेरे अद्भुत रूपोंको देख! वे सैकडों वरु हजारों हैं । एवम्प्रकार भगवान्‌ने अर्जुनसे ऐसा स्नेहमय वचन बोलकर जनादिया, कि जिन रूपोंको मैंने अपनी मैया कौशल्याको पक्वान्न खातेहुए और यशोदाको मिट्टी खातेहुए खेलकूदमें दिखलादिया उन रूपोंको तुझे क्यों न दिखलाऊंगा ।

यहां ' रूपाणि ' बहुवचन कहनेका तात्पर्य यही है, कि मेरा कोई एक विशेष स्वरूप अथवा विशेष प्रकारकी आंख, कान वा नाक नहीं है ये अनेक प्रकारके हैं। यदि कोई इनकी गणना किया चाहे तो नहीं करसक्ता क्योंकि " **शतशोऽथ सहस्रशः** " वे सैकडों वरु हजारों हैं अर्थात् अनगिनत हैं । तात्पर्य्य यह है, कि उस महापुरुषके रूपोंकी संख्या नहीं है असंख्य हैं । इसी वार्त्ताको वेदने पहलेही कहदिया है, कि " **ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्** " (पुरुषसूक्त मं० १) वह पुरुष सहस्रों अर्थात् अनगिनत शिरे तथा अनगिनत आँखें और अनगिनत पांववाला है । वे आंख, पांव इत्यादि भी ऐसे

नहीं हैं, कि एकही रंग वा एकही डौलवाले हों। जैसे एक बट वा अश्वत्थके वृक्षमें एकही प्रकारके फल अनेक होते हैं ऐसे नहीं हैं। कैसे हैं सो भगवान् स्वयं कहते हैं [नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च] अनेक प्रकारसे दिव्य और अनेक वर्णोंके हैं। अर्थात् भिन्नप्रकारकी ज्योतिसे प्रकाशित हैं और इनमें कोई नीला, कोई पीला, कोई काला, कोई लाल, कोई धानी, कोई आसमानी, कोई धूसर, कोई हरा, कोई पाटल (गुलाबी) और कोई धूम्रवर्ण हैं। फिर ऐसा नहीं, कि ये मेरे सब रूप रंग रंगरेजोंके रंगेहुए कपडोंके समान लौकिक रंगवाले हैं वरु ये तो रंग दिव्य हैं अर्थात् जैसे इन्द्र-धनुषमें अथवा किसी स्फटिक काचमें नाना प्रकारके रंग देखेजाते हैं परे वे साधारण रंगोंके समान स्पर्शकरने योग्य नहीं होते केवल दृष्टि मात्रसे ही देखपडते हैं ऐसे वे मेरे रूप नानाविध दिव्य वर्णोंवाले हैं जो दृष्टिगोचर तो हैं पर यथार्थमें वे न स्पर्श योग्य हैं और न ग्रहण करने योग्य हैं अर्थात् वे स्थूल नहीं सूक्ष्म हैं इसी कारण भगवान्ने अपने रूपोंको " दिव्यानि " कहा क्योंकि वे तेजही तेज हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि ऐसा मत समझो, कि इनमें केवल वर्णहीका भेद है वरु इनकी आकृति (डौल) में भी विचित्रता है कोई त्रिकोण तो कोई चौकोण, कोई पंचकोण तो कोई षट्कोण, कोई पीन (मोटा) तो कोई क्षीण, किसीमें एक भुजा है तो किसीमें दो हैं, किसीमें चारे हैं तो किसीमें आठ हैं और किसीमें सहस्रों भुजाएं हैं तो किसीसें अनगिनत हैं एवम्प्रकार अनन्त मुखोंसे युक्त महा विकराल रूप धारण कियेहुए कोई हँसता खिलखिलाता है तो कोई चीखता चिल्लाता है, कोई क्रोधभरे

नेत्रोंसे तिरमिलारहा है तो कोई स्नेह और प्रेमभरे नेत्रोंसे देखरहा है, तो कोई तडक-भडककर घोर गर्जना कररहा है तो कोई उछल कूद-कर मधुर शब्दोंको अलापरहा है; कोई अत्यन्त सुन्दर है तो कोई अत्यन्त कुरूप है, कोई जगा है तो कोई सोया है, कोई शस्त्ररहित है तो कोई बिजलीके समान चमकनेवाले असंख्य शस्त्रोंसे युक्त है और कोई समाधिस्थ है तो कोई चञ्चल है एवम्प्रकार ये मेरे नाना प्रकारके रूप हैं अर्जुन ! तू जी भरके देख और अपनी अभिलाषा पूर्ण करले ॥५॥

अब भगवान् जिन विशेष देवता पितरोंको अपने रूपमें दिखलावेंगे उनका संकेत पहलेहीसे अर्जुनके प्रति संक्षेपरूपसे करदेते हैं।

मू०—पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्य्याणि भारत!॥ ६ ॥

पदच्छेदः— [हे] भारत ! (भरतवंशप्रसूत !) आदित्यान् (१. विवस्वान, २. अर्य्यमा, ३. पूषा, ४. त्वष्टा, ५. सविता, ६. भगः, ७. धाता, ८. विधाता, ९. वरुणः १०. मित्रः, ११. शक्रः १२. उरुक्रमः एतान् द्वादशादितिसुतान्) वसून् (धरः, ध्रुवः, सोमः, विष्णुः, अनिलः अनलः, प्रत्यूषः, प्रभासः, एतानष्टसंख्यकान् वसून्) रुद्रान् (अजः एकपात, अहिर्बुध्न्यः, पिनाकी, अपराजितः, त्र्यम्बकः, महेश्वरः, वृषाकपिः, शम्भुः, हरः, ईश्वरः एतान् एकादशरुद्रान्) अश्विनौ (द्वौ अश्विनीकुमारौ देववैद्यौ) तथा, मरुतः (एकोनपञ्चाशन्मरुद्गणान्) पश्य (अवलोकय) बहूनि (अनेकानि) अदृष्टपूर्वाणि (मनुष्यलोके त्वया अन्येन वा पूर्व

न दृष्टानि) आश्चर्य्याणि (अद्भुतानि । अभिनवरूपाणि) पश्य (विलोक्य) ॥ ६ ॥

पदार्थः— (भारत !) हे भरतकुलशिरोमणि अर्जुन ! (आदित्यान्) द्वादश आदित्योंको (वसून्) आठों वसुओंको (रुद्रान्) एकादश रुद्रोंको (अश्विनौ) अश्विनीकुमार दोनों भाइयोंको (तथा) फिर (मरुतः) उनचाशों वायुओंको (पश्य) अवलोकन कर फिर (बहूनि) इनसे इतर अनेकानेक (अदृष्ट-पूर्वाणि) पहले किसीसे नहीं देखेगये (आश्चर्य्याणि) परम आश्चर्यमय रूपोंको (पश्य) देख ॥ ६ ॥

भवार्थः— अब श्रीआनन्दकन्द नटनागर दयासागर प्रथम संक्षिप्त करके उन-उन देवताओंके नाम सुनारहे हैं जिनको थोडी ही देरमें अपने स्वरूपके अन्तर्गत अर्जुनको दिखलावेंगे । कारण यह है, कि जब कोई किसीको कुछ वस्तु दिखलाता है तब उस वस्तुके दिख-लानेसे पहले यदि उसे कर्णगोचर करदेता है तो देखनेवाला सावधान होजाता है सो भगवानका आन्तरिक अभिप्राय यह है, कि जिन-जिन वस्तुओंको मैं दिखलाऊंगा उनसे अर्जुन सावधान होजावे ।

इसी कारण संक्षेपसे कहते हैं, कि [**पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा**] हे अर्जुन ! तू देख मैं तुझे बारहों सूर्योंको, आठों वसुओंको, ग्यारहों रुद्रोंको, दोनों भाई अश्विनीकुमा-रोंको तथा उनचासों वायुओंको एकसाथ एकरूपमें दिखलाता हूं अर्थात्

विवस्वान, अर्यमा, पूषा इत्यादि द्वादश आदित्योंको और (वसून्) धर, ध्रुव, सोम इत्यादि आठों वसुओंको और अज, एकपाद अहिर्बुध्न्य, इत्यादि एकादश रुद्रोंको तथा अश्विनी और कुमार दोनों भाइयोंको और ४६ वायुओंको देख। फिर इतनाही नहीं वरु [बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत !] हे भरतवंशमें उत्पन्न अर्जुन! उन बहुतेरे आश्चर्य्यमय रूपोंको भी जिनको इस लोकमें न तो तुमने और न किसी दूसरेने इससे पहले देखा तिन्हें भी तू देख।

अर्थात् हे भारत ! तू भरतकुलमें शिरोमणि परमपुरुषार्थी मेरा भक्त है इस कारण मैं इन सब रूपोंको दिखलाता हूं तू आनन्दपूर्वक स्थिरचित्त होकर देख।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि हे भारत ! तू सचेत रह, देख कहीं घबडा न जाना। भयभीत होकर रथसे गिर न जाना और मारे भयके कहीं प्राण न छोडदेना। क्योंकि ये जो देवताओंके नाम तुझसे मैंने कहे हैं उन्हें तो तू मेरे एकरूपमें देखेगा, कि मेरी आँखोंके खुलनेसे ये बारहों आदित्य प्रकट होते हैं और मेरे पलकोंके संपुट लगनेसे ये बारहों नष्ट होजाते हैं फिर मेरे मुखके खुलनेसे जो वाष्प उत्पन्न होता है उससे अग्नि इत्यादि आठों वसु उत्पन्न होते हैं और मेरे अधरोंके सम्पुट लगजानेसे ये नष्ट होजाते हैं। इसी

टि०— द्वादश आदित्य तथा उनंचासों मरुतोंके नाम अ० १० श्लो० २१ में दियेहुए हैं देखलेना।

एकादश रुद्र तथा आठों वसुओंके नाम अ० १० श्लो० २४ में दिये हुए हैं देखलेना।

प्रकार मेरी भौंहोंके उठने और गिरनेसे ग्यारहों रुद्र उत्पन्न होते हैं और नष्ट होजाया करते हैं फिर मेरे चिबुकसे अमृत टपकता है जिससे अनेक अश्विनीकुमारोंकी उत्पत्ति होरही है तत्पश्चात् तू मेरे श्वासोच्छ्वाससे उनचासों मरुतोंको उत्पन्न होतेहुए देखेगा। सो इन सबोंको तो तू मेरे रूपके किसी एक अंशमें देखेगा इनसे इतर जो मेरे अनेक प्रकारके अनगित आकार हैं उनमें न जाने तू कैसे २ आश्चर्य्योंको शान्त, शृंगार, बीभत्स, रौद्र इत्यादि नवों रसोंमें देखेगा सो मैं तुझे इसी कारण चेत करादेता हूं, कि तू इनको देखकर व्याकुल और भयभीत न होजाना सचेत रहना तू वीर है, पराक्रमी है, साहसी है, दृढ है, शान्तचित्त है और परमचतुर है ॥ ६ ॥

अब भगवान् अर्जुनको यह सूचना करते हैं, कि तू मेरे रूपके अंशमें इतना ही नहीं देखेगा वरु सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी रचनाओंको देखेगा।

मू०— इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

पदच्छेदः— [हे] गुडाकेश ! (जितनिद्र !) मम, इह (अस्मिन्) देहे (शरीरे) एकस्थम् (एकस्मिन् अवयवे नखाग्रमात्रे वर्त्तमानम्) सचराचरम् (चरन्ति ते चराः जंगमादयः न चरन्ति ते अचराः स्थावरादयः चराश्च अचराश्च चराचराः तैः चराचरैः सहितम्) कृत्स्नम् (सम्पूर्णम्) जगत् (त्रैलोक्यम्) च (तथा) यत्, अन्यत् (जगदाश्रयभूतं कारणस्वरूपमतीतमनागतं विप्रकृष्टं व्यवहितं स्थूलसूक्ष्मं तथा जयपराजयादिकम्) द्रष्टुम्, इच्छसि, अद्य (अधुनैव) पश्य (विलोकय) ॥ ७ ॥

पदार्थः— (गुडाकेश !) हे निद्राका जीतनेवाला अर्जुन ! (मम) मेरे (इह) इस (देहे) शरीरके (एकस्थम्) किसी एक स्थानमें स्थित (सचराचरम्) जंगम स्थावर भूतोंके सहित इस (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (जगत) त्रिलोकीको तथा (यत्) जो कुछ (अन्यच्च) दूसरेभी जगतके कारण हों अथवा इस महा-भारतयुद्धमें तू जीतेगा वा तेरे शत्रु जीतेंगे इन सब विषयोंको यदि (द्रष्टुम्) देखनेकी तू (इच्छसि) इच्छा करता है तो ले (अद्य) आजही अभी (पश्य) देखले ॥ ७ ॥

भावार्थः— अब भगवान सम्पूर्ण जगतको अपने एक-एक रोममें दिखला देनेके तात्पर्यसे कहते हैं, कि [**इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्**] हे निद्राका जीतनेवाला अर्जुन ! तू एक-एक रोममें सम्पूर्ण संसारको चराचरके सहित एकठौरमें एक-साथ सिमटा हुआ आज अभी इसी समय देख। जैसे किसी सागरकी लहरमें सहस्रों बुदबुद बनते विनशते देखेजाते हैं जैसे कमलकी कर्णिकाके एक अंशमें परागके सहस्रों परमाणु उडते देख पडते हैं ऐसे तू मेरे शरीरके एक नखके अग्रभागमें अथवा मेरे एक-एक रोममें करोडों ब्रह्माण्डोंका उत्पन्न होना और विनाश होजाना देखले। फिर [**मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि**] मेर इस शरीरमें तुझे जो कुछ अन्य वार्ताओंके भी देखनेकी इच्छा हो अर्थात् इस जगतका मूलकारण, अहंकार, महत्तत्त्व प्रकृतिके तीनों गुणोंकी अभिव्यक्ति अथवा अन्य किसीसृष्टिकी विशेष अवस्था तथा उत्पत्ति प्रलय इत्यादि कैसे होतेरहते हैंदेखनेकी इच्छा हो तो मेरे प्यारे अर्जुन ! अभीदेखले

देखनेमें आलस्य मत कर ! देख ! मैं तुझे उन सृष्टियोंको भी दिखाता हूं जो कईबार होकर विनश गयीं। फिर उनको भी दिखलाता हूं जो आगे बनकर विनश जानेवाली हैं। फिर मैं तुझे उन वस्तुओंको भी दिखलाता हूं जो अत्यन्त विस्ताररूपसे फैली हुई हैं तथा उनको भी दिखलाता हूं जो एकबारगी एक ठौर सिमटकर अन्त होरही हैं। फिर हे अर्जुन ! यदि तुझे महाभारत युद्धका वृत्तान्त देखना हो, कि तू जयको प्राप्त होगा अथवा भीष्म, द्रोण, दुर्योधन इत्यादि जय प्राप्त करेंगे तो उसे भी पूर्णरूपसे देखले ॥ ७ ॥

इतना कहकर भगवान् अन्तर्यामी जानगये, कि बिना दिव्यचक्षुओंके यह देखनेको समर्थ नहीं होगा अतएव उसे दिव्यचक्षु प्रदान करनेकी इच्छासे बोले—

मू०— न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

पदच्छेदः— अनेन (प्राकृतेन) स्वचक्षुषा (चर्मावृतेन नयनेन) एव, तु, माम् (मम महेश्वरस्य स्वरूपम्) द्रष्टुम्, न, शक्यसे * (शक्नोषि । शक्तो न भविष्यसि) [अतः] ते, दिव्यम् (दिव्यरूपदर्शनक्षमसप्राकृतम्) चक्षुः (नयनम्) ददामि (यच्छामि) [तेनैव] मे, ऐश्वरम् (ईश्वरसम्बन्धिनम्) योगम्

* पदविकरणव्यत्यये आर्षः— भौवादिकस्यापि शक्नोतेर्दैवादिकः श्यन् छान्दस इति वा दिवादौ पाठोवेत्येव साम्प्रदायिकम् ।

(विश्वाश्रयत्वलक्षणासामर्थ्यम् । अघटनघटनासामर्थ्यातिशयम्) पश्य (विलोकय) ॥ ८ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन! तू (अनेन, स्वचक्षुषा) अपने इस प्राकृतिक चर्मचक्षुसे (एव, तु) निश्चय करके (माम्) मेरे दिव्यस्वरूपको (द्रष्टुम्) देखनेको (न, शक्यसे) समर्थ नहीं है अर्थात् इन नेत्रोंसे तू मुझे नहीं देखसकता इसलिये (ते) तेरे निमित्त (दिव्यम्) दिव्य (चक्षुः) नेत्रको (ददामि) देता हूं इस दिव्य नेत्रसे (मे) मेरे (ऐश्वरम्) परम ऐश्वर्ययुक्त (योगम्) संसारकी रचना करनेवाली अद्भुत योगकलाको (पश्य) देखले ॥८॥

भावार्थः— अर्जुन ! भगवान्से प्रथम ही कहचुका है, कि " मन्यसे यदि तच्छक्यं मयाद्रष्टुमिति प्रभो " हे प्रभो ! यदि तुम मुझको अपने रूपके देखने योग्य मानते हो तो मुझे अपना दिव्य रूप दिखलादो और ' प्रभो ' ऐसा सम्बोधन करके यह भी सूचित करचुका है, कि जो प्रभु अर्थात् स्वामी होता है वह अपने असमर्थ सेवकको भी समर्थ बनालेता है । इसी कारण भगवान् अर्जुनको चर्म-चक्षुओंसे देखनेके लिये समर्थ न जानकर कृपापूर्वक कहते हैं, कि हे मेरे परम प्रिय अर्जुन ! देख [न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा] तू अपने इन स्वाभाविक मानुषी प्राकृत चर्मके नेत्रोंसे मुझे नहीं देखसकता यह निश्चय है । क्योंकि चर्मचक्षुओंसे केवल प्राकृत रचना देखीजाती है और जहांतक इन पंचभूतोंका विस्तार है उन्हींके देखने योग्य मैंने उतनी ही शक्ति चौरासी लक्ष

जीवोंके नेत्रोंमें प्रदान की है। कोई प्राणी इन चक्षुओंसे किसी दिव्य पदार्थको देखनेमें समर्थ नहीं होसकता परन्तु तू मेरा परम भक्त है इसलिये [दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्] आज मैं अपनी ओरसे तुझे वह दिव्य चक्षु प्रदान करता हूं जिसके द्वारा तू आज मेरी परम ऐश्वर्यमयी योगकलाकी अघटित घटना को देख।

प्रिय पाठकोंके हृदयमें यहां अवश्य यह जाननेकी अभिलाषा उत्पन्न होआयी होगी, कि इन चर्मचक्षुओं और दिव्यचक्षुओंमें क्या अन्तर है ? इसलिये उनके कल्याणार्थ दोनों प्रकारकी चक्षुओंका भेद संक्षिप्तरीतिसे वर्णन कियाजाता है और कई प्रकारके दृष्टान्तोंसे समझाया जाता है।

अब जानना चाहिये, कि जैसे जन्मान्ध अर्थात् जन्मसे ही चक्षुहीन और आंखवालोंमें जितना अन्तर है उतनाही वरु उससे भी कुछ अधिक चर्मचक्षु और दिव्यचक्षुमें अन्तर है। जो प्राणी जन्मसे अन्धा है उसे इस सृष्टिकी न कुछ रचना, न कुछ शोभा और न इस सृष्टिकी विचित्र वस्तुओंके देखनेका कुछ सुख ही उसे अनुभव होता है इसलिये सृष्टिमात्र के देखने के सुखसे वह बंचित रहता है। वह नहीं देख सकता, कि प्रातःकाल ऊषाके उदय होनेकी कैसी शोभा है फिर सूर्यदेव किस विचित्रताके साथ उदय होतेहुए तप्त स्वर्णके सदृश अपनी किरणोंको फैलातेहुए संसारियोंको अपने २ व्यवहारोंमें लगानेकी सहायता करते हैं। उनके निकलनेसे सरोवरोंमें कमल किस शोभासे खिलआते हैं ? आकाशमें सर्वत्र

उजियाली किस प्रकार छाजाती है ? चन्द्रदेव किस सजधजके साथ आकाशमें उदय होतेहुए प्रेमियोंके हृदयको गद्गद करते हैं ? शरदृतुकी पौर्णमासीकी रात्रिमें चन्द्रिकाचर्चितआकाश मंडल किस विचित्र शोभासे भरारहता है! और हरएक पौर्णमासीको समुद्र अपनी ऊंची २ लहरोंसे उमं- गमें आताहुआ चन्द्रदेवसे मिलनेको कितनी छान तोडता है मानो प्रलय करदेग, वसन्तऋतुमें चैतकी चांदनीका कैसा आनन्द होता है? वाटि- काओंमेंचित्तविचित्र, हरे, नीले, अरुण, श्वेत इत्यादि रंगोंसे रंगीहुई भगवत् की विचित्र रचनाओंकी कलाओंको प्रकट करतीहुई किस शोभाके साथ मन्द-मन्द वायुके लगनेसे अनेक प्रकारकी कुसुमलतिकाएं दायें वायें लदीहुई झुमकाते हुए कुसुमोंसे भूमती रहती हैं ? कोयल, पिक इत्यादि पक्षी अपने हृदययन्त्रके तारोंको एक सुरमें मिलाकर किस मधुर स्वरसे रागनियोंको अलापते हुए पथिकोंके हृदयको अपनी ओर खींच रहे हैं ? जलसे भरेहुए श्यामघन किस प्रकार बिजलीकी तरज लरजसे युक्त होकर उमड घुमड रहे हैं जिनको देख सारंग (मयूर) कैसे आनन्दमें मग्न हो अपने चित्रविचित्र रंगोंसे रंगेहुए पक्षोंको उठा चारों ओर छत्रके सदृश बना नृत्य करते हैं ? गंगा, यमुना इत्यादि नदियां किस प्रकार अपनी उत्ताल तरंगोंसे लहरें लेतीहुई बहरही हैं ? अधिक कहांतक कहूं जन्मान्धको तो किसी स्वरूपवानकी परम मनोहर छविका भी कुछ बोध नहीं होता फिर जब उसे छवि और शृंगार ही का बोध नहीं है तो वह क्या जाने, कि प्रेम किस पशुका नाम है ? वह तो जन्मसे मरण पर्यन्त प्रेम हीन सर्वप्रकारके लौकिक आनन्दों से बंचित रहजाता है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जितना अन्तर इस संसारके सुखों के देखनेमें अन्धे और आंखवालोंमें है ठीक-ठीक ज्योंका त्यों इतना ही अन्तर भगवतशोभा देखनेमें चर्मचक्षु और दिव्यचक्षु वालोंको है। चर्मचक्षुसे ब्रह्मानन्दका स्वरूप वा सुख कुछ भी नहीं देखाजासकता और न अनुभव किया जासकता है। वह केवल दिव्यचक्षु ही है जिससे ब्रह्मसुखका बोध होता है। दिव्यचक्षुवालोंको प्रत्यक्ष होता है कि ब्रह्म क्या है? आत्मा क्या है? प्रकृति कैसी है? मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार इत्यादिके स्वरूप कैसे हैं? हृदयके आकाशमें शान्तिकी ऊषा किस शोभाके साथ उदय होती है फिर आत्मज्ञानका सूर्य किस प्रकार उदय होकर सहस्रों जन्मोंके पिछले सब वृत्तान्तोंको तथा भविष्यत्को करतलगत करदेता है अर्थात् दिव्यचक्षुवाला किस प्रकार त्रिकालदर्शी होजाता है? फिर इस आत्मज्ञानके सूर्यकी किरणोंके छिटकनेसे अन्तःकरणके सरोवरमें वेद, वेदांग इत्यादि नाना प्रकारके कमल किस प्रकार आपसे आप प्रफुल्लित होजाते हैं। हृदयमें सर्वत्र उजियाली होजाती है। सब पारलौकिक वार्तायें दृष्टिगोचर होने लग-जाती हैं। तो जैसे चर्मचक्षुवाले नाना प्रकारके व्योमयान इत्यादि वाहनोंपर चढकर दशों दिशाओंके नगरोंको देखआते हैं इसी प्रकार दिव्य दृष्टिवाला क्षणमात्रमें देवलोक, वृहस्पतिलोक, ब्रह्मलोक इत्यादि लोकोंकी हवा खा आता है। प्रेमके निर्मल पूर्ण चन्द्रकी शोभा उसे प्रत्यक्ष देखपडती है। तुरीयावस्थाकी वाटिकामें विवेक, विराग, योग, जप, तप इत्यादि पुष्पोंकी टहनियां बडी शोभासे झूमती दीखपडती हैं? जिनपर धारणा, ध्यान, समाधिके पक्षी कैसे चहचहे माररहे हैं? परम

पुरुषार्थके घनघोर बादल पट्सम्पत्तियोंकी वर्षा कैसे करते हैं ? तथा अष्टसिद्धियां उसके सम्मुख किस प्रकार नृत्य करने लगती हैं ? ये सब बातें स्वच्छरूपसे देखनेमें आजाती हैं, पिंगला ईडाकी गंगा और यमुना लहरें लेतीहुई सुषुम्ना रूप सरस्वतीसे मिलकर त्रिकुटीके प्रयागराजमें पहुंच अपनेमें स्नान करनेवालोंको किस प्रकार समाधिस्थ करदेती है ? अधिक कहांतक कहूं साक्षात श्यामसुन्दरकी परम मनोहर अलौकिक दिव्य मूर्त्ति परम शृंगारयुक्त प्रत्यक्ष दीखने लगजाती है और वह प्राणी उनसे मिल परम प्रेममय वार्ताओंको करने लगजाता है । जैसे ऐह लौकिक नेत्रवाले किसी लोहेके अथवा कपडेके कलघर (Mill) में जाकर प्रत्यक्ष देख लेते हैं, कि नाना प्रकारके यन्त्रों में किस प्रकार मनो लोहे एक मुहूर्तमात्रमें गलाये जाते हैं और उनके नाना प्रकारके कीलकांटे झट कैसे बनजाते हैं तथा सहस्रों मन रूई एक प्रहरमें धुनधुनाकर उनके सूत बनकर किसप्रकार कपडे बुनते चलजाते हैं । इसी प्रकार दिव्य दृष्टि वालोंको प्रत्यक्ष देखनेंमें आता है, कि यह सारी सृष्टि प्रकृति के कलघरमें किस प्रकार पल मारते बनजाती है और उस महेश्वरकी माहेश्वरी माया किस प्रकार अपने रजोगुणी, सत्वगुणी तथा तमोगुणी अहंकारसे करोडों सृष्टिकी रचना, पालन और संहार करती रहती है देखो! यही दिव्यदृष्टि आज अर्जुनको भगवानने प्रदान की है जिससे वह उपर्युक्त सर्व वार्ताओंको अवलोकन करेगा ।

यदि कोई किसीसे यह कहे, कि इस दिव्यचक्षुका स्वरूप और सुख लिखकर वा कहकर मुझे जनादो तो ऐसा कदापि नहीं होसकता । यदि कोई

कल्पपर्य्यन्त इसका स्वरूप और सुख जनानेके लिये लिखता ही चलाजावे और बकता ही चलाजावे तो दूसरेको रंचकमात्रभी समझमें न आवेगा ।

अभिप्राय यह है, कि पतिसे मिलीहुई कन्याओंको दाम्पत्यप्रेमका सुख उन कन्याओंको जिनको पतिकी प्राप्ति नहीं हुई है कदापि अनुभव नहीं होसकता ।

इसी प्रकार जबतक भगवत्की उपासना चिरकाल पर्य्यन्त न कीजावे तबतक दिव्यचक्षु नहीं मिलसकता । इसकी प्राप्ति निमित्त उपासनाकी नितान्त आवश्यकता है । इसी कारण भगवान्ने इस उपासनाके षट्कमें उपासनाकी ही शिक्षा अर्जुनको देते हुए इस उपासनाकाण्डमें इस दिव्यचक्षुका विषय छेडा है और अर्जुनको प्रदान किया है।

प्रिय पाठको ! यदि दिव्यदृष्टि प्राप्त करना चाहते हो तो भगवत्की उपासनामें जी लगाओ क्योंकिं संसारके प्रपंचोंमें रहते हुए इस चक्षुकी प्राप्ति असम्भव है ।

शंका— आयु थोडी है शारीरिक व्यवहार, भोजन, शयन इत्यादिमें समय बहुत व्यय होता है ऐसी दशामें क्या हमलोगोंसे इतनी उपासना बनसकती है, कि दिव्यचक्षुके अधिकारी होसकें ?

समाधान— ऐसा विचार कर निराश हो आलसी बन चुप मत बैठे रहो टिट्टिभ पक्षीका इतिहास अ० ६ श्लो० २३ में वर्णन करचुका हूं उसे देखलो ! किसी दिन जो उस दयासागरको दया आजावेगी तो आप ही दिव्यचक्षु प्रदान करदेगा ॥ ८ ॥

जब भगवानने अर्जुनको दिव्यचक्षु प्रदानकर अपना रूप प्रकट करदिया तब सञ्जय धृतराष्ट्रसे कहता है—

सञ्जय उवाच—

मु०— एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

पदच्छेदः— [हे] राजन्! (धृतराष्ट्र!) महायोगेश्वरः (योगिनामीश्वरः योगेश्वरः महान् सर्वोत्कृष्टश्चासौ योगेश्वरश्चेति महा योगेश्वरः। अचिन्त्यः। घटनापटुः) हरिः (संसारदुःखं हरतीति) एवम् (यथोक्तप्रकारेण) उक्त्वा (दिव्यम ददामि ते चक्षुरित्यनुग्रह-वाक्यमुच्चार्य) ततः (दिव्यचक्षुः प्रदानानन्तरम्) पार्थाय (पृथा-पुत्राय। अर्जुनाय) परमम् (परमोत्कृष्टम्) ऐश्वरम (ईश्वरसम्बन्धि) रूपम (विश्वरूपम्) दर्शयामास (दर्शितवान्) ॥ ९ ॥

पदार्थः—(राजन्) हे राजा धृतराष्ट्र! सुनो! (महायोगेश्वरः) योगियोंके ईश्वर जिनकी योगमायाकी कलाएं चिन्ता करने योग्य नहीं हैं ऐसे जो (हरिः) भक्तोंके दुःखोंके हरनेवाले श्रीकृष्णचन्द्र हैं उन्होंने (एवम) इस प्रकार (उक्त्वा) कहकर, कि हे अर्जुन! तुझे मैं दिव्यचक्षु प्रदान करता हूं (ततः) पश्चात् शीघ्र ही (पार्थाय) पृथाकेपुत्र अर्जुनके लिये अपना (परमम) परम उत्कृष्ट (ऐश्वरम) ईश्वरता संयुक्त (रूपम) रूपको (दर्शयामास) दिखलादिया ॥९॥

भावार्थः- भगवान्‌ने दर्शनाभिलाषी अर्जुनको जब दिव्य-चक्षु प्रदान कर इधर महाभारतकी रणभूमिमें रथपर अपना विश्व-रूप दिखलाया तब ही सञ्जय जिसे व्यासदेवने दिव्यदृष्टि प्रदानकर धृतराष्ट्रको महाभारतका वृत्तान्त सुनाते रहनेकी आज्ञा प्रदान की थी

बोलउठा, कि [**एवमुक्त्वा ततो राजन् ! महायोगेश्वरो हरिः**] हे राजा धृतराष्ट्र! अर्जुनके प्रति इतना कहकर, कि मैं तुझे अपने अलौकिक रूपके देखने निमित्त दिव्यचक्षु प्रदान करता हूं सर्व प्रकार योगोंके जो ईश्वर हैं अर्थात् अघटित घटनाके साधनमें जो परम चतुर हैं अपनी योगमायासे सम्पूर्ण विश्वको निज आज्ञामें रखतेहुए बड़े-बड़े बुद्धिमानों तथा ब्रह्मा इत्यादि देवताओंको भी जो मोहमें डालनेवाले हैं ऐसे महायोगेश्वर हरिने [**दर्शयामास पार्थाय परमं रूप-मैश्वरम्**] पृथापुत्र अर्जुनकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये अपना परम उत्कृष्ट ईश्वरीय रूप दिखलादिया ।

संजय महाभारतके अनेक वृत्तान्तोंको कहताहुआ धृतराष्ट्रको एक साधारण शब्द राजन् ! कहकर सम्बोधन करके जो भगवत्‌की आश्चर्य्यमयी लीला और महिमाका वर्णन सुनाने लगा है उसके कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि हे धृतराष्ट्र ! देखो प्रत्यक्ष विश्वम्भर अजय अर्जुनकी सहायताके लिये उसका रथवान् बनकर तैयार हैं इतना जानकर भी तुम सन्धि नहीं करते और अपने पुत्रोंको युद्ध करनेसे नहीं रोकते अतएव एक साधारण बुद्धिवाले राजा हो। क्योंकि जैसे एक साधारण राजा लोभग्रस्त होकर हानिलाभका विचार न करके अपनेसे प्रबल नरेशोंके साथ युद्धादि कर पीछे पछताता है ऐसे ही तुम भी लोभमें फंसकर जिसकी सहायता करनेवाले साक्षात् श्रीआनन्दकन्दने स्वयं रथपर घोडोंकी बागडोरोंको थाम रखा है ऐसे प्रतापी प्रबलशत्रुके साथ लडनेको तैयार हो तो इसका परिणाम पश्चात्तापके अतिरिक्त अन्य कुछभी हाथ नहीं आवेगा । अतएव

उचित है, कि सन्धि करलो । इतना संकेत करनेपर भी जब धृत-राष्ट्र ने हां वा ना कुछ नहीं कहा और न मस्तक ही हिलाया पाषाणकी मूर्तिके समान चुप सुनता रेहा तब ऐसा जानकर, कि चर्म-चक्षु और विचारचक्षु इन दोनों प्रकारके चक्षुओंसे अंधे राजाकी दशा लोभमें पडकर वैसी ही होगी जैसी कीर (सूआ) और मर्कट (बानरे) की होती है । ये जीव अज्ञानतावश एक तुच्छ पदार्थोंको हाथमें पकडेहुए नहीं छोडते और बांधलियेजाते हैं ऐसे ही इस राजाकी भी दशा होरही है। ऐसा विचार फिर सोचने लगा, कि इसे कुछ भगवत्स्वरूपकी महिमा तो सुनादूं जिससे सम्भव है, कि कदाचित् इस जन्मान्ध लोभग्रस्त राजाकी बुद्धि कुछ पलट जावे ॥ ६ ॥

ऐसा विचार सञ्जयने भगवत्की महिमाका कहना आरम्भ किया—

सू०— अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

पदच्छेद— अनेकवक्त्रनयनम् (अनन्तानि मुखानि नेत्राणि यस्मिन् रूपे तत्) अनेकाद्भुतदर्शनम् (अपरिमितानि विस्मायकानि दर्शनानि यस्मिन् तत) दिव्यानेकोद्यतायुधम (भक्तसंरक्षणार्थं दिव्या-न्यलौकिकानि उद्यतानि बहूनि आयुधानि चक्रादीन्यस्त्राणि यस्मिन् तत) दिव्यमाल्याम्बरधरम् (दिव्यानि पुष्पमयानि माल्यानि तथा दिव्यानि वस्त्राणि ध्रियन्ते येन तत्) दिव्यगन्धानुलेपनम् (दिव्यचन्दनैः

अनुलेपनं यस्य) सर्वाश्चर्यमयम् (सर्वाश्चर्य्याणां प्राचुर्यं यस्मिन् तत्) देवम् (द्योतनात्मकम्) अनन्तम् (अपरिच्छिन्नम्) विश्वतोमुखम् (सर्वतो दृश्यमानं वा सर्वतो मुखानि यस्मिन् तत्) ॥
॥ १०, ११ ॥

पदार्थः— भगवान्‌ने कैसा रूप दिखलाया सो संजय धृतराष्ट्रसे कहता है, कि (अनेकवक्त्रनयनम्) अनन्त मुख और नयन हैं जिसमें, (अनेकाद्भुतदर्शनम्) फिर नाना प्रकारकी विस्मयजनक वस्तु देखनेमें आती हैं जिसमें (अनेकदिव्याभरणम्) अंग—अंगोंमें दिव्य आभूषण सजेहुए देखपडते हैं जिसमें (दिव्याऽनेकोद्यतायुधम्) तथा जिसने अनेक प्रकारके दिव्य अस्त्रशस्त्रोंको उठारखा है (दिव्यमाल्याम्बरधरम्) फिर जिसने अनेक प्रकारकी दिव्य मालाओं और वस्त्रोंको धारण कररखा है (दिव्यगन्धाऽनुलेपनम्) और जिसके अंगोंमें दिव्य चन्दनका अनुलेपन कियाहुआ है एवम्प्रकार (सर्वाश्चर्यमयम्) विविध आश्चर्योंसे युक्त (देवम्) देवस्वरूप (अनन्तम्) जिसका कहीं भी अन्त नहीं है और (विश्वतोमुखम्) सब ओर जिसके मुख हैं ऐसे आश्चर्यमय स्वरूपको अर्जुनके प्रति (दर्शयामास) दिखलाया ॥ १०, ११ ॥

भावार्थः— इन १० और ११ श्लोकोंके पदोंको नवें श्लोक के पद " दर्शयामास पार्थाय " के साथ अन्वय करना चाहिये अर्थात् संजय राजा धृतराष्ट्रसे कहता है, कि हे राजन् ! भगवान्‌ने अर्जुनके लिये कैसा रूप दिखलाया सो तुमसे कहता हूं एकाग्र

चित्त हो सुनो ! सञ्जयके चित्तमें यह वार्ता आसमायी है, कि जब राजा धृतराष्ट्र भगवानकी अद्भुत महिमा सुनेगा तो कदाचित् इसकी बुद्धि जो लोभग्रस्त है कुछ सात्विक होजावे तथा कुछ भयभीत होकरे अपने पुत्रोंको तथा भीष्म और द्रोणको बुलाकर सन्धि करलेनेका विचार करे। इसी कारण भगवान्के अलौकिक रूपका वर्णन करता हुआ कहने लगा, कि हे राजा धृतराष्ट्र ! उस सर्वशक्तिमान् पर-ब्रह्म जगदीश्वरने अर्जुनको कैसा अद्भुत रूप दिखलाया सो श्रवण करो ! [अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्] भगवान्ने अपने अद्भुत विश्वरूपमें अनेकानेक अनगिनत मुख और नयन तथा अनेक विस्मय-जनक दृश्य (तमाशे) दिखलाये अर्थात् जैसे किसी वाटिकामें पाटल [गुलाव] पुष्पकी पंक्तियोंकी टट्टी लगी हो अथवा किसी विशाल सरमें सहस्रों लावण्ययुक्त कमलोंकी पंक्तियां खिलरही हों ऐसे मुख और नयनोंकी सहस्रों पंक्तियां भग-वान्ने दिखलायीं सो कैसी सुन्दर हैं, कि जिनसे लावण्यरसकी बूंदें टपक-टपक कर एकत्र हो सरिताओंकी धार बनकर शृंगारके समुद्रमें जामिलती हैं। असंख्य नेत्रोंकी शोभा मानो करोडों सूर्योंके तेजोंको लज्जित कररही है और ऐसी शोभा देरही है मानो अनन्त कोटि सूर्योंकी पंक्तियोंके मध्य असंख्य चन्द्र आबैठे हों और तिन चन्द्रोंके बीचोंबीच राहुओंने एक ठौर सिमट कर स्थान पकडा हो तिनके ऊपर भौंहें कैसी शोभा देरही हैं मानो कामदेवने अपने अपरिमित कमानोंकी हाट बनाकर एक पंक्तिमें सज दी हों।

अब संजय धृतराष्ट्रसे कहता है, कि हे राजन् ! इतना ही मत समझो, कि भगवान्ने अर्जुनको केवल शृंगाररसमें अपने बहुतेरे मुख और नयन दिखलादिये । नहीं ! नहीं ! भगवान्ने तो ऐसे-ऐसे मुख और नयनोंको रौद्र वीभत्स इत्यादि नवों रसोंमें अनगिनत रूपसे दिखलाना आरम्भ करदिया ।

अब अर्जुन जो शूरतामें इन्द्रके समान, स्थिरतामें हिमालयके समान और सहनशीलतामें पृथ्वीके समान था एकबारगी घबडा उठा क्योंकि एकाएक भयानक रससे भरेहुए अनेक मुख और नेत्र देखपडे । वे कैसे भयंकर हैं, कि जिनको देख कालका भी कलेजा स्थिर नहीं रहता, जिनको देख ब्रह्मादि देवभी आंखें मूँद२ कर पलायमान होरहे हैं, और जिनकी अनगिनत लम्बी-लम्बी लाल-लाल जिह्वाएं कई सहस्र हाथ नीचे लटकी हुई ऐसी भयंकर देख पडती हैं, मानो ! कालाग्नि अपनी सप्तजिह्वाओंको कई सहस्र बनाकर सम्पूर्ण विश्वको निगलजानेके लिये तयार है । फिर संजय कहता है, कि इतना दिखलाकर भगवान्ने "अनेकाद्भुतदर्शनम्" अपने अन्य अंगोंमें अनेक अद्भुत दृश्य दिखलाये जिन्हें देख अर्जुन विस्मयसागरकी लहरोंमें ऊब-डूब होने लगगया । न तो अब वह रथ हांकनेवाले श्यामसुन्दरको कहीं देखता है, न उसे कहीं कुरुक्षेत्रकी रणभूमि ही दीखपडती है, न वह अपने पिछले स्वरूपको देखता है और न अपनी सेनाओंको देखता है । अबतो वह केवल बोधमात्र बनाहुआ अपनी दिव्यदृष्टिसे सहस्रों सूर्य और चन्द्रोंको * त्रसरेणुओंके समान दशों दिशाओंमें इधर—उधर उडतेहुए देखरहा

* जालान्तर्गते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः । प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुः प्रचक्षते ॥ (मनु॰ अ॰ ८ श्लोक १३२)

है । जैसे एक क्षुद्र मत्स्य किसी बडे अथाह सागरमें तैरताहुआ जिधर देखता है उधर केवल जल ही जल देखता है इसी प्रकार अर्जुन अद्भुतरसके समुद्रमें अपनेको मग्न देखरहा है जैसे दीपक सूर्य की ज्योतिके सम्मुख मलिन होजावे ऐसे करोडों सूर्योंकी ज्योति इस अद्भुत प्रकाशके सम्मुख उसे मलिन दीखपडती हैं । एवम्प्रकार अद्भुत रचनाओंको देखताहुआ अर्जुन विचारने लगा, कि जिस आनन्दकन्दके मुख और नयनोंको मैं अभी देखरहा था, कि मानो छवियोंकी हाटसी लगीहुयी थी वे किधर गये और उनके अन्य अंग किधर हैं ऐसा विचार करते ही उसकी दृष्टिमें फिर भगवत्की वही लावण्यता दीखनेलगी और मुखोंके साथ अन्य अंग कैसे देखपडे, कि [अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्] अनेक अलौकिक आभूषणोंसे विभूषित तथा अत्यन्त प्रकाशमान अनेक अस्त्रोंको उठायेहुए हैं । अभिप्राय यह है, कि चारों प्रकारके दिव्य आभरण भगवान्के अंग२में सुशोभितहैं । अर्थात् जो आपके असंख्य कर्ण देखपडते हैं उन प्रत्येक कर्णोंमें सहस्रों रवि की प्रभाको लज्जित करनेवाले दिव्य कुण्डल लटक रहे हैं नासिकामें नासामणि लटकतेहुए जो अरुण अधरोंपर आगिरते हैं तो ऐसा

---

१. आवेध्यम्—जो अंगोंको बेधकर पहनायाजावे । जैसे कुंडल, नासामणि, इत्यादि । २. बन्धनीयम्— जो अंगोंमें बांधकर पहनायाजावे । जैसे, कंकण, कटकांगद (बाजू) इत्यादि । ३. क्षेप्यम्— जो अंगोंमें खैंचकर डालदियेजावें, जैसे नूपुर मुद्रिका इत्यादि । ४. आरोप्यम्— जो अंगोंमें बिना बेंधे वा बांधे आरोपण करदिये जावें, जैसे मणियोंकी माला इत्यादि ।

बोध होता है मानों सहस्रों भृंग बिम्बाफलके ऊपर अपना बसेरा लेनेका विचार कररहे हैं। पर यहां ऐसा विचार होता है, कि इन भृंगोंने अपना हृदय छिदवाडाला है इस कारण भगवानके अधरों तक आपहुंचे हैं और सर्वसाधारणको यह उपदेश कररहे हैं कि जो प्राणी इसी प्रकार भगवत्‌के निमित्त अपना कलेजा छिदवाडालेगा वह भगवान्‌के अंगोंके स्पर्शका आनन्द अनुभव करेगा। इसी प्रकार अंगुलियोंमें रत्न जटित मुद्रिकाएं, कलाइयोंमें मणिकांचनमय कंकण तथा भुजाओंमें कटकांगदों (बाजूबन्दों) की शोभा अर्जुनके चित्तको हरलेती है। अधिक क्या कहूं इन आभूषणोंसे जो विश्वरूप भगवान्‌की भुजाएं सुशोभित होरही हैं उनमें और क्या विशेषता देखपडती है, कि "दिव्यानेकोद्यतायुधम्" उनसे अनेक प्रकारके अस्त्र उठाये गये हैं अर्थात् भक्तोंकी रक्षा निमित्त चक्र, गदा, त्रिशूल, खड्ग, शतघ्नी, मुसल, परिघ धनुर्बाण इत्यादिको धारण कियेहुए हैं वेद भी जिनकी स्तुति यों करता है, कि—

"ॐ नम इषुमद्भ्यो धन्वायि-भ्यश्चवो नमः" (शु० यजुर्वेद रुद्राध्याय मं० २२ में देखो)

अर्थ— भक्तोंकी रक्षानिमित्त हस्तकमलोंमें बाण और धनुष धारण करनेवालेके लिये नमस्कार है। फिर अर्जुन क्या देखता है, कि [**दिव्य-माल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्**] भगवान् अलौकिक माला और वस्त्रोंको धारण कियेहुए हैं जिनपर अनेक प्रकारके परिमल-पूर्ण चन्दन अनुलेपन किये हुए हैं अर्थात् उनके गलेमें जो दिव्यमाला-ओंकी श्रेणियां लटकरही हैं उनको ऐसी नहीं समझना चाहिये जैसी, कि इस संसारमें मणि, माणिक इत्यादिको गूँथकर माला बनालेते हैं,

वरु ये मालाएं तो दिव्य हैं । ऐसा बोध होता है मानो ध्रुव, सप्तर्षि तथा अन्य नक्षत्रोंने अपना हृदय छिदवाकर एकठौर सिमट मालाकार बन चन्द्रदेवको सुमेरु बना भगवत्के गलेमें आलटके हैं। फिर भगवान् दिव्य वस्त्र अर्थात् दिव्य पीताम्बरको धारण किये हुए हैं सो पीताम्वर ऐसा मत समझो जैसा, कि इस संसारमें रेशमी कीडसे रेशम निकालकर काशीके वा हस्तिनापुरके कलघरमें बुना लेतेहैं वरु भगवानने जो अपने विश्वरूपसें पीताम्बर धारण किया है वह सहस्रों सूर्यरूप रेशमीकीटोंसे उनकी रश्मियोंका रेशम निकाल स्वर्गलोकके कलघरमें विश्वकर्माने मानो स्वयं अपने हाथोंसे बुनकर भगवत्के अंगोंमें पहना दिया है। ऐसी दिव्य माला और दिव्य अम्बरोंको धारण किये हुए विश्वरूपभगवान्को अर्जुनने देखा । फिर वे अंग कैसे हैं ? " दिव्यगन्धानुलेपनम् " जिनमें सुगन्धमय सुरक्षित चन्दन घिसकर अनुलेपन करदियागया है। अर्थात् साक्षात उस परमशक्तिने मानो अपने हाथोंसे सहस्रों दिव्य मलयगिरियोंको पीसकर अंगोंमें लेपन करदिया है । सो देखकर कैसी शोभा होती है जैसे सम्पूर्ण हिमाचल शृंगसे जडतक हिमसे लिपटाहुआ हो अथवा सहस्रों शरदृतुकी पौर्णमासीकी चांदनी एकत्र सिमटकरे भगवत्के अंगोंमें लिपटगयी हों जिसकी सुगन्धि ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्त फैलतीहुई चौदहों भुवनोंको सौरभमय कररही है । एवम्प्रकार [सर्वाश्चर्य्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्] सर्वथा चकित करनेवाले अद्भुत रचनाओंसे रचित अन्तरहित दिव्य विश्वतोमुख रूपको देखा। अर्थात् इस प्रकार विश्वरूपको दशों दिशाओंमें अवलोकन किया, कि दृष्टिको तिलमात्र भी कोई जगह दिव्यमूर्तियोंसे

वंचित नहीं मिली। क्योंकि जिधर अर्जुन देखता है उधर ही उसे आश्चर्यमय महाभयंकर स्वरूप देखपडते हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, दायें, बायें, ऊपर, नीचे तथा चारों कोण जिधरही अर्जुनकी दृष्टि जाती है उधर ही अन्तरेहित भगवान्को ही देखता है कहीं किसी ओर चित्त विश्वरूपसे शून्य नहीं देखता । जैसी श्रुति भगवत्स्वरूपकी व्याख्या करती है ।

प्रमाण श्रु०— " ॐ ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वंञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदम्वरिष्ठम् "

अर्थ—यह ब्रह्म जो अमृतस्वरूप ही है वह आगे है, पीछे है, दक्षिण है, उत्तर है, नीचे है और ऊपर है। यही एक ब्रह्म सर्वत्र जिधर देखो उधर फैला हुआ है। यह ब्रह्म विश्वरूप है अर्थात् यह सबसे श्रेष्ठ ब्रह्म सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको सब ओरसे घेरेहुआ है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि अर्जुनने मानों ठीक २ इसी श्रुतिका अर्थ भगवत्के साकाररूपमें दशों दिशाओंकी ओर देखा और ऐसा देख आश्चर्य्यसे हक्का बक्कासा होरहा अर्थात् भगवान्ने जब उसे दिव्यचक्षु प्रदानकर अपना स्वरूप दिखाना आरम्भ किया तभीसे वह आश्चर्यसागरमें निमग्न होने लगा ॥ १०, ११ ॥

अब आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रने जो अपना अलौकिक स्वरूप अर्जुनके प्रति दिखलाया है तिसकी निर्मल प्रभाका वर्णन करताहुआ सञ्जय धृतराष्ट्रसे कहता है—

मू०— दिवि सूर्य्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भा सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥
॥ १२ ॥

पदच्छेदः— दिवि (अन्तरिक्षे) सूर्य्यसहस्रस्य (असंख्यसूर्य्यसमूहस्य) भा (दीप्तिः) यदि, युगपत (एकसमयावच्छेदेन) उत्थिता (उत्पन्ना उदिता वा) भवेत, सा (दीप्तिः) तस्य, महात्मनः (विश्वरूपस्य) भासः (प्रकाशस्य) सदृशी (तुल्या) स्यात (भवेत) ॥ १२ ॥

पदार्थः— (दिवि) आकाशमें (सूर्य्यसहस्रस्य) अनगिनत सूर्य्योंकी (भा) दीप्ति अर्थात् ज्योति (यदि युगपत्) यदि एकही समय (उत्थिता भवेत्) उदय होजावे तो (सा) सो एककालमें उदय हुई ज्योति (तस्य महात्मनः) तिस विश्वरूपके (भासः) प्रकाशके (सदृशी) समान (स्यात) होवे तो होवे [इसमें भी सन्देह नही है] अर्थात् विश्वरूपके अंगोंकी प्रभाकी बराबरी असंख्य सूर्य्योंके प्रकाशका समूह भी नहीं करसकता ॥ १२ ॥

भावार्थः— प्रत्येक अंगकी शोभा विलग २ कहकर अब सम्पूर्ण अंगोंकी प्रभाका वर्णन करताहुआ सञ्जय धृतराष्ट्रसे कहता है, कि [दिवि सूर्य्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता] यदि एकही समय एकही बारे असंख्य सूर्य्योंकी प्रचण्डदीप्ति अर्थात् प्रदीप्त तेजोंका समूह आकाशमें उदय होजावे तात्पर्य्य यह है, कि असंख्य सुर्य यदि एकसाथ मिलकर आकाशको इस प्रकार आच्छादन करलेवें जैसे अनन्त तारकचय

असंख्यरूपसे विस्तृत गगनकी छातीपर पडे हैं तब कहीं [यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः] एकसाथ मिलीहुई वह ज्योति तिस महायोगेश्वर विश्वरूपके परमप्रकाशके तुल्य होवे तो होवे । अर्थात् तब भी उस महापुरुषके प्रकाशके तुल्य होनेमें शंका है । जिस भगवान्की ' भा ' प्रकाश और दीप्तिके विषय सञ्जयने सहस्रों सूर्य्योंके तेजसमूहकी उपमा देकर धृतराष्ट्रसे कहा है उसी प्रभाके विषय श्रुति भी यों कहती है– " ॐ न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकन्नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः "

(कठो० अ० २ व० २ मं० १५ में देखो)

अर्थ— जिस भगवान्की दीप्तिके सम्मुख जाकर यह सूर्य मलिन होजाता है, चन्द्र और तारागण प्रकाशहीन होजाते हैं तहां इस बेचारी आगकी क्या गणना है ॥ १२ ॥

लो और सुनो—

मू०— तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

पदच्छेदः— तदा (तस्मिन् समये) पाण्डवः (पाण्डोः अपत्यमर्जुनः) तत्र (तस्मिन्) देवदेवस्य (द्योतनस्वभावानां देवस्य श्रीकृष्णस्य) शरीरे (लीलाविग्रहे विश्वरूपे) एकस्थम् (एकस्मिन् स्थितम्) अनेकधा (देवपितृमनुष्यादिभेदैरनेकप्रकारेण) प्रविभक्तम् (भेदेनावस्थितम् । विभागयुक्तम्) कृत्स्नम् (सम्पूर्णम्) जगत् (सचराचरं ब्रह्माण्डम्) अपश्यत् (दृष्टवान्) ॥ १३ ॥

पदार्थः— (तदा) तिस समय (पाण्डवः) अर्जुनने (देवदेवस्य) सब देवोंके देव श्रीकृष्णके (तत्र शरीरे) तिस विश्वरूप शरीरमें (एकस्थम्) एकस्थानमें स्थित (अनेकधा) अनेक प्रकारकी भिन्न २ रचनाओंसे (प्रविभक्तम्) विभागकियेहुए (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (जगत्) ब्रह्माण्डको (अपश्यत्) देखा ॥ १३ ॥

भावार्थः— भगवान्के अनुपम विश्वरूपमें अर्जुनने क्या अद्भुत चमत्कार देखा? सो सञ्जय राजा धृतराष्ट्रसे यों कहता है, कि [तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा] सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अनेक प्रकारकी भिन्न २ रचनाओंमें विभाग कियाहुआ एक किसी ठौरमें स्थित देखा। अभिप्राय यह है, कि भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोकादि ऊपरके सातों लोकोंके तथा अतल, वितल इत्यादि नीचेके सातों लोकोंके अन्तर्गत मनुष्य, देवता, पितर, गन्धर्व इत्यादिके स्वरूपोंको फिर अनेक प्रकारके जम्बु, क्रौंच इत्यादि द्वीपोंको, सुमेरु, हिमालय, नीलगिरि इत्यादि पर्वतोंको, क्षारसागर, क्षीरसागर, इत्यादि सागरोंको, नन्दनवन, वृन्दावन इत्यादि बनोंको और सूर्य, चन्द्र इत्यादि ग्रहोंको अनेक प्रकारसे भिन्न भिन्न विभागोंमें बटेहुए एकठौर स्थित देखा। किसने कब और कहां देखा? सो सञ्जय कहता है, कि [अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा] अर्जुनने सब देवोंके देव जो साक्षात सच्चिदानन्द आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके विश्वरूप शरीरमें उसी क्षण अर्थात् दिव्यचक्षु पानेके अनन्तर ही शीघ्र देखा। जैसे आंवलेके वृक्षमें आंवलेके गुच्छे लटक

रहे हों अथवा उदुम्बरों (गुल्लरों) के गुच्छोंसे जैसे उदम्बरवृक्ष शोभा-यमान होरहा हो अथवा किसी महासागरमें बुदबुदोंकी पंक्तियां तैररही हों ऐसे कई ब्रह्माण्डोंको भगवत्के रोम-रोममें लटकते देखा ॥ १३ ॥

अब ऐसे विश्वरूपका दर्शन पातेही अर्जुनने क्या किया ?

सो सञ्जय कहता है—

मू०— ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

पदच्छेदः— ततः (विश्वरूपदर्शनानन्तरम) विस्मयाविष्टः (अदृष्टपूर्वालौकिकदर्शनप्रभवेनात्यन्ताश्चर्य्येण व्याप्तः) हृष्टरोमा (पुलकितानि रोमाणि यस्य सः रोमाञ्चितगात्रः) सः, धनञ्जयः (राजसूयसिपेण दिग्विजये सर्वेभ्यः राजेभ्यः धनञ्जयति यः सोऽर्जुनः) देवम (द्योतनात्मकम् । श्रीकृष्णस्य विश्वरूपम्) शिरसा (मस्तकेन) प्रणम्य (अभिवन्द्य) कृताञ्जलिः (सम्पुटीकृतहस्तो भूत्वा) अभाषत (उक्तवान) ॥ १४ ॥

पदार्थः— (ततः) विश्वरूपका दर्शन पाकर (विस्मयाविष्टः) आश्चर्यसे भराहुआ तथा (हृष्टरोमा) रोमांचितगात होकर (सः धनञ्जयः) सो अर्जुन (देवम्) भगवानको (शिरसा) मस्तकसे (प्रणम्य) चरणोंमें गिरकर (कृताञ्जलिः) हाथोंको जोडेहुए (अभाषत) बोला ॥ १४ ॥

भावार्थः— सञ्जय कहेता है, कि हे राजा धृतराष्ट्र ! [ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः] जैसे ही धनञ्जय अर्थात्

वीर अर्जुनने भगवान्के विश्वरूपका दर्शन पाया वैसे ही उसी क्षण आश्चर्यसे भरगया अर्थात् आश्चर्यने उसको एकबारगी काठका पुतलासा बनादिया। सब अंग शिथिल होगये न तो अब वह कुछ देखता है, न सुनता है और न विचारसकता है। उसके कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरणने उसके पांचभौतिकशरीरको एकबारगी त्यागदिया। जैसे इन्द्रजालके मन्त्रसे बहताहुआ पानी एकठौर जमजाता है ऐसे उसकी सब इन्द्रियां अन्तःकरणके साथ मिल एकीभूत होगयीं। जैसे योगी समाधिस्थ होकर बैठजाता है तो शरीरकी सुधि कुछ भी नहीं रहती ऐसे अर्जुन समाधिस्थसा होगया है अब तो उसे कहीं कुछ सूझता ही नहीं है एकटक लगाये चुप खडा है। पर जैसे महा अन्धकारमयी यामिनीमें मार्ग भूलेहुए पथिकको प्रातःकाल ही सूर्यकी सहायता मिलनेसे चारों ओर उजियाली होजाती है और मार्ग दीखने लगजाता है इसी प्रकार अर्जुनको इस आश्चर्य्यमयी रात्रिमें उसके दिव्यचक्षुने सूर्यके सदृश जब सहायता की तो फिर उसे कुछ चेत हुआ और चेत होते ही शरीर रोमावलियोंसे पुलकायमान होगया। जैसे वर्षाकालमें पृथ्वीपर तृणके अंकुर सर्वत्र उगआते हैं ऐसे सारे शरीरपर रोंगटे खडे होगये। फिर तो उस समय उसे दूसरी कोई बात न सूझी केवल नम्रताने उसे श्रीकृष्णके चरणोंपर गिरनेकी आज्ञा दी। जैसे यमुनातटके वृक्षकी डालियां नवपल्लवोंसे जब झुकजाती हैं और झुककर यमुनाजलको स्पर्शकरती हैं इसी प्रकार अर्जुन भगवत्स्वरूपको देखतेही आठों प्रकारके × सात्विक-

× १. रोमांच, २. अश्रुपात, ३. कम्प, ४. स्तम्भ, ५. प्रलय, ६. स्वेद, ७. मुखविवर्ण और ८. स्वरभंग।

भावोंके फलोंसे लदकर [प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत] श्रीकृष्णके चरणकमलोंपर मस्तक झुका बद्धांजलि होकर नम्रभावसे यों बोला ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच ।

मू०— पश्यामि देवांस्तव देव ! देहे,
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

पदच्छेदः— [हे] देव ! तव, देहे (विश्वरूपे शरीरे) सर्वान्, देवान् (इन्द्रादीन्) तथा, भूतविशेषसंघान् (चतुर्विधा जरायुजादयस्तेषां समूहान्) कमलासनस्थम् (भगवन्नाभिकमलासनस्थम) ईशम् (प्रजानामीशितारम्) ब्रह्माणम् (चतुर्मुखम) सर्वान्, ऋषीन् (वशिष्ठादीन्) च (तथा) दिव्यान् (दिविभवान्) उरगान् (उरसा वक्षसा गच्छन्ति ये तान् । वासुकिप्रभृतीन्) च, पश्यामि (उपलभे । चाक्षुषज्ञानविषयीकरोमिति वा) ॥ १५ ॥

पदार्थः— (देव !) हे देव ! (तव देहे) तुम्हारे शरीरमें (सर्वान् देवान्) इन्द्रादि सब देवताओं (तथा) और (भूतविशेषसंघान) अण्डज, पिण्डज इत्यादि चारों प्रकारके भूतोंके समूहोंको अथवा आकाश, वायु इत्यादि पांचों भूतोंको फिर (कम-

लासनस्थम) भगवत्की नाभिसे निकलेहुए कमलपरे आसन लगाये हुए (ईशम) सम्पूर्ण विश्वके उत्पन्न करनेमें समर्थ अतएव सबके ईश (ब्रह्माणम) चार मुखवाले ब्रह्माको और (सर्वान् ऋषीन्) वशिष्टादि सब ऋषियोंको (च) भी फिर (दिव्यान्) परम दिव्य (उरगान्) नाग, वासुकि इत्यादि सर्पोंको (च) भी (पश्यामि) देखता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन अपने दिव्यचक्षुसे जो कुछ देखरहा है उसका वर्णन करताहुआ भगवान्की स्तुति करता २ यह कहता है, कि [पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्] हे देव ! तुम्हारे शरीरमें में इन्द्रादि सब देवोंको देखरहा हूं और जितने भूतविशेष हैं उनके समूहोंको भी देखरहा हूं । अर्थात् जितने देव हैं उन सबोंको मैं तुम्हारे एकएक रोममें लटकाहुआ देखता हूं !

मुख्य तात्पर्य यह है, कि अर्जुनने वसु, रुद्र, आदित्य इत्यादि को असंख्य रूपमें देखा । पहले जो कह आये हैं, कि विश्वरूपके एक २ रोममें करोडों ब्रह्माण्डोंको इस प्रकार लटका देखा जैसे उदुंबरके

टि०—प्रमाण श्रुतिः " ॐ यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति " (बृह० अ० १ ब्रा० ४ श्रु० १२)

अर्थ— देवगणोंकी कितनी जातियां हैं उन्हें गणभेदसे कथन करता हूं— ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १० विश्वेदेव और ४६ मरुत । जो पहले भी दिखलादिये गये हैं ।

वृक्षमें असंख्य उदुम्बरोंके गुच्छ लटके हुए रहते हैं। सो उन्हीं असंख्य ब्रह्माण्डोंमें भिन्न २ देवताओंको अर्जुनने देखा ।

अब अर्जुन आश्चर्य्यमें मग्न हो कहता है, कि हे देव ! आपके रूपमें मैं सब देवोंको ही नहीं वरु " सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् " जितने भूतविशेष हैं उन सबोंको भी मैं देखता हूं अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा अण्डज, पिण्डज, ऊष्मज, स्थावर इन चारों प्रकारके प्राणियोंके समूहोंको तुम्हारे ही स्वरूपसे उत्पन्न होहो कर तुम्हींमें लय होते देख रहा हूं ।

अब अर्जुन कहता है, कि हे महाप्रभो ! इतना ही नहीं वरु [ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्] संपूर्ण जीवोंके ईश ब्रह्माको पद्मासन लगाये हुए और वशिष्ठ आदि ऋषियोंको तथा वासुकी इत्यादि रूपोंको तुममें देख रहा हूं ।

किसी-किसी टीकाकारेने " ब्रह्माणमीशम् " वाक्यका यों अर्थ किया है, कि ब्रह्मा और शिव दोनोंको आपमें देखता हूं। दोनों अर्थोंमें किसी प्रकारकी हानि नहीं है क्योंकि उस ब्रह्मस्वरूपसे कोटानुकोटि ब्रह्मांड क्षणभरमें उपजते और विनशते देखपडते हैं और उस प्रत्येक ब्रह्मांडमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश देखेजाते हैं जो उसकी रचना, पालन और संहार में तत्पर हैं। अर्थात् जितने ब्रह्माण्ड हैं उतने ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश देख पडते हैं इसी कारण दोनों अर्थोंका यहां समावेश होसकता है ।

फिर अर्जुन क्या कहता है, कि " ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् " मैं वशिष्ठ, कश्यप, अंगिरा इत्यादि सब ऋषियोंको तथा

वासुकि इत्यादि दिव्य सर्पोंको शेषनागके सहित हे भगवन् ! तुम्हारे अंगमें देखता हूं। जैसे केदार पर्वतके ऊपर सहस्रों जलके झरने लटके देख पडते हैं ऐसे मैं तुम्हारे अंगोंमें लटके हुए सर्पोंको देखता हूं पर ये जितनी रचनाओंको मैं देखरहा हूं सब दिव्य अर्थात् अलौकिक और अद्भुत हैं लौकिक एक भी नहीं है ॥ १५ ॥

अर्जुन भगवानके जिस विश्वरूपमें नाना प्रकारकी अद्भुत रचनाओंको देखरहा है उस रूपकी अनेक विशेषणोंसे स्तुति करता हुआ कहता है—

मू०— अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् ,
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिम् ,
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

पदच्छेदः— [हे] विश्वेश्वर ! (विश्वस्य ईश ! विश्वात्मन् !) विश्वरूप ! (विश्वमूर्ते !) अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम (अपरिमितानि बाहूदरवक्त्रनेत्राणि यस्मिन् तम) सर्वतः (चतुर्दिक्षूर्ध्वमधश्च) अनन्तरूपम् (अपरिच्छिन्नं रूपं यस्य तम्) त्वाम्, पश्यामि, पुनः, तव, अन्तम (अवसानम) न, मध्यम (उत्पत्त्यन्तयोः अवस्थानम) न, आदिम् (उत्पत्तिम) न, पश्यामि ॥ १६ ॥

पदार्थः— अर्जुन कहता है, कि (विश्वेश्वर !) हे सम्पूर्ण जगत्के स्वामी ! तथा (विश्वरूप) हे विश्वमूर्ति ! विराट्स्वरूप !

मैं (अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्) अनगिनत भुजा, उदर, मुख और नेत्रवाले तुमको तथा (सर्वतः) सब ओर सब दिशाओंमें (अनन्तरूपं त्वाम्) तुम अनन्तस्वरूपको (पश्यामि) देखता हूं (पुनः) फिर ऐसा भी देखता हूं, कि (तव) तुम्हारा (अन्तम्, न) अन्त कहीं नहीं है और (मध्यम्, न) मध्य भी नहीं है तथा (आदिम्, न) आदि भी कहीं नहीं है अर्थात् न तो तुम कभी उत्पन्न होते हो और न नाश होगे तुमतो जन्ममरणसे रहित हो ॥ १६ ॥

भावार्थः-- अब अर्जुन अनेक प्रकारसे भगवानके विराट्-स्वरूपकी स्तुति करताहुआ कहता है, कि [**अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्**] हे विश्वेश्वर ! मैं अनगिनत भुजाओंको, अनेक उदरोंको असंख्य मुखोंको, और सहस्रों नेत्रोंको सर्वत्र तुम्हारे अनन्तस्वरूपमें देखता हूं अर्थात् वेदने जिस प्रकार तुमको " ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् " कहकर स्तुति की है सो मैं ठीक २ वैसा ही देखता हूं । तात्पर्य्य यह है, कि ८४ लक्ष योनियोंके तथा तेतीस कोटि देव और ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि अनेक देवोंके मुखोंको और इनसे इतर अन्य भी कई प्रकारके अद्भुत मुखोंको जिनको किसीने कभी न देखा और न सुना तिनको मैं आज तुम्हारे अनन्तरूपमें देखरहा हूं । ब्रह्मवैवर्त्त प्रकृतिखण्ड अ० ३ में लिखा है, कि " प्रत्येकं लोमकूपेषु विश्वानि निखिलानि च । तस्यापि तेषां संख्या च कृष्णो वक्तुं न हि क्षमः । संख्याचेद्रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन । ब्रह्मविष्णुशिवादीनां तथा संख्या न विद्यते । प्रतिविश्वेषु सन्त्येव ब्रह्माविष्णु-

शिवादयः " (अर्थ स्पष्ट है) फिर ' सर्वतः ' सब ओरसे तुमहीको देखता हूं अर्थात पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, नैऋत्य इत्यादि दशोंदिशा विदिशाओंमें जिधर मेरी दृष्टि मुडती है उधर ही तुम्हारे स्वरूपको देखता हूं। हे भगवन ! इस समय तो आकाश और पाताल एक होरहे हैं। अर्थात् ऊपरको जब दृष्टि करता हूं तो जहां तक दृष्टि दौडाता चला जाऊं तुम्हारे ही स्वरूपको देखता चलाजाता हूं फिर नीचेको जहांतक दृष्टि जाती है वहांतक तुम ही तुम देखेजाते हो न तो ऊपर ही कहीं अन्त मिलता है और न नीचे ही कहीं थाह मिलती है। इसी कारण अब मुझको पूर्ण-रीतिसे विश्वास और निश्चय होगया, कि तुम्हारे निज मुखारविन्दसे निसरे हुए वचन ज्योंके त्यों सत्य हैं, कि तुम विश्वतोमुख हो विश्वरूप हो और अनन्त हो फिर [**नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप !**] हे विश्वेश्वर संम्पूर्णजगतके स्वामी ! हे विराट्स्वरूप! मैं तुम्हारा न अन्त देखता हूं न मध्य देखता हूं और न आदि देखता हूं। हे भगवन ! चाहे कोटानकोटि, युगयुगान्तर क्यों न बीतते चलेजावें पर तुम्हारी समाप्ति कभी भी नहीं होसकती इसी कारण वेदने तुम्हें सनातन कहकर पुकारा है। स्वयं सरस्वती भी जहां यह नहीं कहसकती, कि तुम्हारी उत्पत्तिकी कौनसी मिति है ? सो हे भगवन ! तुम्हारा आदि, मध्य और अन्त कुछ भी नहीं है। तुम तो अनादि, अमध्य और अनन्त हो। इसी कारण श्रुतियोंने तुम्हें " **नित्योऽनित्यानाम्** " " **न जायते म्रियते वा** " " **न मृत्युः प्रविशति यत्र** " इत्यादि पदों करके गान किया है और इसी कारण

"सदानन्दं परमानन्दं शाश्वतं शान्तं सदाशिवं ब्रह्मादि वन्दितम्" (नृसिंता० अ०८ श्रु० ३) कहा है अर्थात् तुम अनित्योंमें नित्य हो, न जनमते हो, न मरते हो, तुम तो सदा एक रस हो, तुम तो सदा आनन्दस्वरूप, परमानन्दस्वरूप, नित्य, शान्त, सदाशिव-मूर्त्ति और ब्रह्मादि देवोंसे बन्दना कियेजाने योग्य हो। क्योंकि अन्य सब देव देवियोंके आदि * मध्य और अन्त हैं पर तुम इन कालों करके अवच्छिन्न नहीं हो ॥ १६ ॥

फिर अर्जुन कहता है—

मू०— किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च,
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ॥
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्तात्,
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७॥

पदच्छेदः— किरीटिनम् (शिरोभूषणविशेषवन्तम्) गदिनम् (गदापाणिम्) चक्रिणम् (चक्रहस्तम्) च, तेजोराशिम् (तेजः पुञ्जम्) सर्वतः (दशसु दिक्षु) दीप्तिमन्तम् (प्रकाशस्वरूपम्) दुर्निरीक्ष्यम् (निरीक्षितुमशक्यम्) दीप्तानलार्कद्युतिम् (दीप्ताग्निसूर्ययोः कान्तिरिव कान्तिर्यस्य तम्) अप्रमेयम् (निश्चयितुमशक्यम् । प्रमाणीकर्तुमयोग्यम्) त्वाम्, समन्तात् (सर्वत्र) पश्यामि ॥ १७ ॥

---

* यदि शंका हो, कि भगवान्का आदि अन्त तो नहीं है पर मध्य भी नहीं है ऐसा क्यों कहा तो इसका समाधान आगे श्लोक १६ में देखो।

पदार्थः— (किरीटिनम्) मस्तकपर किरीट धारण करनेवाले (गदिनम्) एक हाथमें गदा तथा (चक्रिणम्) दूसरे हाथमें चक्र धारण करनेवाले (च) फिर (तेजोराशिम्) तेज समूहके धारण करनेवाले (सर्वतो दीप्तिमन्तम्) चारों ओरसे ऐसा प्रज्वलित कि (दुर्निरीक्ष्यम्) नेत्रोंसे न देखेजानेवाले (दीप्तानलार्कद्युतिम्) जलतीहुई आग तथा प्रकाश करतेहुए सूर्यके समान द्युतिवाले (अप्रमेयम्) प्रमाण रहित (समन्तात) सर्वत्र दशों दिशाओंमें (त्वाम्) तुमको मैं (पश्यामि) देखरहा हूं ॥ १७ ॥

भावार्थः— अब भगवतस्वरूपके विशेष अलंकरणोंका वर्णन करताहुआ अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! [किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।] मैं तुमको मस्तकपर किरीट धारण किये हुए, हस्तकमलोंमें गदा और चक्र धारण किये हुए तथा चारों ओर प्रकाशमान तेजका देदीप्यमान भण्डार देखता हूं । पर यह किरीट जो तुम्हारे मस्तकपर सुशोभित होरहा है वह वैसा नहीं है जैसा, कि इस संसारमें प्राकृत नरेशोंके मस्तकमें धारण करनेके लिये स्वर्ण, मणि, माणिक इत्यादिसे बनाया जाता है अथवा ये जो गदा और चक्र तुम्हारे हस्तकमलोंमें विराजमान हैं ये वैसे नहीं जैसे, कि इस संसारमें युद्धादिक्रियासम्पादनके निमित्त लौह अथवा काष्ठका बनालेते हैं । क्योंकि प्राकृत शरीरमें धारण करनेके लिये ये प्राकृत वस्तु तस्तु हैं पर तुम प्राकृत पुरुष नहीं तुम तो दिव्य हो इसलिये तुम्हारे ये अलंकरण भी दिव्य हैं सो कैसे

दिव्य और किस प्रकार दीप्तिमान हैं, कि "तेजोराशिं सर्वतो दीप्ति-मन्तम् " तेजोराशि अर्थात् सम्पूर्ण विश्वका तेज सिमटकर एकठौर होगया है अथवा तेजका कोई भण्डार है जो सब ओर जाज्वल्यमान होरहा है ऐसे तुम्हारे दीप्तिमान् स्वरूपको दिव्य अलंकरणों और आयु-धोंके साथ देखता हूं पर अब हे भगवन्! अधिक देखा नहीं जाता क्योंकि मैं सर्वत्र अप्रमेय अग्नि और सूर्यके तेजसेयुक्ततुम्हारे दुर्निरीक्ष्य स्वरूपको देखता हूं अर्थात तुम्हारा तेज [पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्तात् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्] दुर्निरीक्ष्य है देखतेही चकाचौंध लगजाती है नेत्रोंको इतनी शक्ति नहीं, कि तुम्हारे इस तेजकी ओर देख-सकें। क्योंकि सब ओरसे प्रज्वलित अग्नि तथा सहस्रों सूर्योंकी ज्योति एकत्र होजावे तो नेत्र उस ज्योतिको देखनेमें समर्थ नहीं होसकता। क्योंकि न तो तुम्हारे स्वरूपका और न तेजका कहीं प्रमाण है। जैसे तुम्हारा स्वरूप अप्रमेय (प्रमाण करने योग्य नहीं) है ऐसेही तुम्हारा तेज भी प्रमाण रहित है तहां आश्चर्य्य यह है, कि मेरी दिव्य दृष्टिको चकाचौंध लगी चली जारही है फिर लौकिक दृष्टि अर्थात् इन चर्म-चक्षुओंकी क्या दशा होगी ? तात्पर्य्य यह है, कि इस परम तेजो-राशिको तो संसारी मनुष्य कदापि देखही नहीं सकते। इसी कारण श्रुति कहती है, कि ' ॐ न तत्र चक्षुर्गच्छति ' तिस भगवान्के यथार्थ तेजोमय स्वरूपको यह आंख नहीं देखसकती।

शंका—पहले तो 'पश्यामि त्वाम्' कहा अर्थात् हे भगवन् ! मैं तुमको देखता हूं फिर 'दुर्निरीक्ष्य' कहा अर्थात् तुम नहीं देखेजाते ये दोनों विरुद्ध बातें एक ही ठौर कैसे बनें ?

समाधान—यहां दुर्निरीक्ष्य शब्दका अर्थ अनिरीक्ष्य नहीं समझना चाहिये। क्योंकि भगवान्ने अर्जुनको दिव्य चक्षु प्रदानकर इस योग्य करदिया है, कि उसकेलिये भगवान्का ज्योतिःस्वरूप अनिरीक्ष्य तो नहीं पर दुर्निरीक्ष्य है। अनिरीक्ष्य उसे कहते हैं जो एकबारगी नहीं देखाजावे सो भगवान्का ज्योतिःस्वरूप चर्मचक्षुसे तो (अनिरीक्ष्य है) देखा ही नहीं जाता पर दिव्य चक्षुसे दुर्निरीक्ष्य है अर्थात् जो बहुत क्लेश करके देखाजावे। सो अर्जुन दिव्यचक्षुद्वारा भगवत्के अलौकिक तेजःपुञ्जको देखताहुआ कहता है, कि हे भगवन्! तुम्हारा ज्योतिःस्वरूप दुर्निरीक्ष्य है जिसे मैं देख तो रहा हूं पर अब देखा नहीं जाता देखते २ नेत्रोंको चकाचौंध लगगयी है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जैसे चर्मचक्षुवाले मनुष्योंको प्रातःकाल सूर्य्योदयके समय जबतक बालरवि रहता है और आंखोंकी पुतलियोंसे उसकी ज्योति तिर्यक् (तिरछी) पडती है तबतक तो सूर्यकी ओर मिनट आधा मिनट पलकें ठहर सकती हैं पर जैसे २ सूर्य ऊपरको चढताजाता है और उसकी ज्योति नेत्रोंकी पुतलियोंकी सीधमें सम्यक्रूपसे पडने लगजाती है तब बडे कष्टसे देखाजाता है पलकें उस ज्योतिपर नहीं ठहर सकतीं। इसी प्रकार अर्जुनके दिव्यचक्षु भगवान्की ज्योतिको देखते २ अब देख नहीं सकते अतएव अर्जुनने कहा, कि हे भगवन्! जो तुम्हारा ज्योतिःस्वरूप मैं देखरहा हूं वह अब मेरे इस दिव्यचक्षुसे भी दुर्निरीक्ष्य होरहा है अर्थात् अब अधिक मैं इस तेजःपुञ्जको नहीं देख सकता। आंखोंमें तिमिरी लगती चली जाती हैं पलकें रुकती चलीजारही हैं बस यहां इतना ही तात्पर्य है। शंका मत करो॥ १७॥

अर्जुन फिर कहता है—

मू०— त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्,
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता,
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

पदच्छेदः—त्वम्, परमम (श्रेष्ठम) अक्षरम् (नाशरहितम) वेदितव्यम् (स्वभक्तैर्ज्ञातव्यम्) त्वम्, अस्य, विश्वस्य (जगतः) परम् (प्रकृष्टम्) निधानम् (लयस्थानम् आश्रयो वा) त्वम्, अव्ययः (नित्यः) शाश्वतधर्मगोप्ता (सनातनधर्मरक्षकः) त्वम्, सनातनः (चिरन्तनः) पुरुषः [इति] मे (मम) मतः (अभिमतः) ॥ १८ ॥

पदार्थः – अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! (त्वम्) तुम (परमम्) सबसे श्रेष्ठ तथा (अक्षरम्) नाशरहित (वेदितव्यम्) अपने भक्तोंसे जानने योग्य हो फिर (त्वम्) तुम (अस्य विश्वस्य) इस संसारके (परम्) सबसे श्रेष्ठ और उत्तम (निधानम्) आश्रय हो फिर (त्वम्) तुम (अव्ययः) नाशरहित, नित्य तथा (शाश्वतधर्मगोप्ता) सनातनधर्मकी रक्षाकरनेवाले हो और (त्वम्) तुम (सनातनः पुरुषः) सनातन पुरुष हो अर्थात् सदासे हो और सदा रहोगे [इति] (मे मतः) यही मेरा मत है अर्थात् मैं ऐसा ही मानता हूं ॥ १८ ॥

भावार्थः— अर्जुन भगवत्के अद्‌भुत विश्वरूपका दर्शन पाकर अपनी सम्मति प्रकट करताहुआ भगवानकी स्तुति करता है, कि [त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्]

हे भगवन् ! तुम सर्वोपरि श्रेष्ठ हो तथा नाशरहित हो और तुम इस संसारके परम आश्रय हो मुमुक्षुओंके द्वारा जाननेके योग्य हो अर्थात् जिन प्राणियोंके हृदयमें तुमको जाननेकी अभिलाषा है वे इस अभिलाषासे महापुरुषोंकी शरण जाकर उनको सेवा द्वारा प्रसन्नकर तुम्हारे जाननेके विषय प्रश्नादि करके पूर्ण श्रद्धासे तुमसे मिलनेका मार्ग ढूंढते हैं। क्योंकि तुम उन्हीं महात्माओंके द्वारा जानने योग्य हो। तुमने तो स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहा है, कि " तं विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया " हे भगवन् ! ऐसे मुमुक्षुओंके अतिरिक्त कोई भी तुमको नहीं जानसकता है।

यहां अर्जुनने भगवान्को सबसे पहले तीन विशेषणोंसे संयुक्त किया " परमम्, अक्षरम् और वेदितव्यम् " अर्थात् ' सर्वोत्कृष्ट ' ' अविनाशी ' और ' जानने योग्य '। तहां अर्जुनका मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवानका जो निराकार और निरुपाधि स्वरूप है वही सबसे अर्थात् अन्य ब्रह्मादि देवोंसे परम (श्रेष्ठ) है इसलिये चतुर प्राणी तथा ज्ञानियोंको चाहिये, कि ऐसे श्रेष्ठका आश्रय पकडे, उसीकी शरण हो, उसीमें अनन्यता धारणकरे " अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता " नारदका सूत्र है, कि अन्य सब आश्रयोंका त्याग करदेना ही " अनन्यता ' है। सो अनन्यता तुम्हारे ही परमश्रेष्ठस्वरूपसे करना चाहिये। अर्जुनके कहनेका तात्पर्य यह है, कि हे भगवन् ! अब मैं तुमको परम जानकर तुम्हारा ही आश्रय लेता हूं और तुम्हारेमें मेरी गति होवे यही मेरी अभिलाषा है। यहां परम कहकर अर्जुनने अपने मनकी इतनी अभिलाषा प्रकट करदी।

अब " अक्षरम् " कहनेका तात्पर्य्य यह है; कि यदि कोई प्राणी ऐसे पुरुषकी शरण लेवे जो परम अर्थात् श्रेष्ठ हो पर नाशवान हो तो शरण जानेवालोंको अन्तमें पछताना पडेगा। जैसे किसीने किसी प्रबल नरेशकी शरण लेली पर जब वह नरेश मृत्युको प्राप्त होजावेगा तब तो शरण लेनेवाला निराश्रय होजावेगा इसी कारण अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! तुम श्रेष्ठ भी हो और अक्षर अर्थात् अविनाशी भी हो अतएव तुम्हारी शरण लेना सर्वथा उचित है क्योंकि तुम्हारी शरण लेनेवाले कभी निराश्रय नहीं होसकते।

अब अर्जुन कहता है, कि हे भगवन ! तुम वेदितव्य हो अर्थात् वेदान्त द्वारा मुमुक्षुओंकरके जानने योग्य हो। यहां अर्जुनका अभिप्राय यह है, कि यदि कोई किसी अविनाशी श्रेष्ठ पुरुषकी शरणलेवे पर उसके गुणोंको न जाने तो भी शरण लेनेवालेको कोई लाभ नहीं है जैसे किसी मूर्खके घरमें हीरा रहे और वह उस हीराके न पहचाननेके कारण भूखों मरता रहे इसी प्रकार जबतक शरणवाला जाना न जाय तबतक शरण लेनेवालेको सुखकी प्राप्ति नहीं होसकती सो अर्जुन कहता है, कि तुम भक्तों करके जानने योग्य हो इसलिये तुम्हारी ही शरण सदा उचित है।

शंका— स्वयं भगवान्ने अपने मुखसे कहा है, कि " नाहं प्रकाशः सर्वस्य " " मान्तु वेद न कश्चन " (अ० ७ श्लो० २५, २६) " न मे विदुः सुर गणाः " (अ० ७ श्लो० २) अर्थात् मेरा प्रभाव वेद इत्यादि किसीपर प्रकट नहीं है और मुझको किसीने नहीं जाना

देवगण तथा महर्षियोंने भी नहीं जाना । फिर श्रुति भी कहती है, कि " न विद्मो न विजानीमः " अर्थात न मैं जानती हूं और न जानसकती हूं ऐसी दशामें अर्जुनने जो ' वेदितव्यम् ' कहकर भगवान्‌की स्तुति की सो तो भगवान्‌के वचनसे तथा श्रुति इत्यादिसे भी विरुद्ध है ऐसा क्यों ?

समाधान— इसमें तो तनक भी सन्देह नहीं है, कि उस महाप्रभुको ब्रह्मादि देवोंने भी नहीं जाना पर इतना स्मरण रहे, कि जो प्राणी उस महाप्रभुका भक्त है वह तो उसे अवश्य जानसकता है जैसे नट (बाजीगर) की नाना प्रकारकी अद्भुत कलाओंको बडे २ बुद्धिमान नहीं जानसकते पर जो उस बाजीगरकी झोलीको कन्धेपर ढोनेवाला उसका सेवक है वह बाजीगरकी सकल कलाओंको जानलेता है इसी प्रकार भगवत्‌की सब कलाओंको उसका अन्तरंग सेवक जान-लेता है । अर्जुन भगवानका परमप्रिय सेवक है इसलिये कहता है, कि हे भगवन् ! तुम भक्तों करके वेदितव्य हो अर्थात् मैंने तुम्हारे स्वरूपका दर्शन पाकर तुम्हें जानलिया । शंका मत करो !

अब अर्जुन कहता है, कि " त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् " तुम इस संसारके परम आश्रय हो अर्थात् जहांसे ये सब भूतमात्र उत्पन्न होते हैं, पालेजाते हैं और फिर लय होजाते हैं सोही स्थान तुम हो ।

इसी वार्त्ताको ब्रह्मसूत्रमें कहा है, कि " जन्माद्यस्य यतः " अर्थात् इस विश्वमात्रके जन्म, पालन और संहार जहांसे होते रहते

हैं वही ब्रह्म है । श्रुति भी कहती है, कि " ॐ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति " (तैत्ति० भृगुव० श्रु० १)

अर्थ— वरुण अपने पुत्र भृगुसे कहता है, कि जहांसे ये सब जीव उत्पन्न होते हैं फिर जिसके द्वारा जीते हैं और फिर जिसमें प्रवेश करजाते हैं सो ही ब्रह्म है उसीको जानो । इसी कारण अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! तुम इस विश्वमात्रके परमनिधान अर्थात् आश्रय हो । फिर तुम कैसे हो, कि [त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे] तुम अविनाशी हो सनातनधर्मके रक्षक हो और सनातन हो ऐसा मैं मानता हूं । सो भगवान्ने अपने मुखारविन्दसे भी कहा है, कि " यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् " (अ० ४ श्लो० ७) अर्थात् जब जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका उत्थान होता है तब तब मैं अपनेको सनातन धर्मकी रक्षाकेलिये सिरजता हूं । इस वचनसे यह भी सिद्ध होता है, कि भगवान् ही सबके आश्रय हैं ।

अब अर्जुन कहता है, कि " सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे " हे भगवन ! तुम सनातन पुरुषहो ऐसा मैं मानता हूं अर्थात् तुम कबसे हो कहां और कैसे उत्पन्न हुए ? यह कोई भी नहीं कहसकता है तथा तुम कबतक रहोगे यह भी कोई नहीं जानता तात्पर्य यह है, कि तुम आदि अन्तसे रहित सदासे हो और सदा रहोगे इसी कारण तुम सनातन पुरुष कहेजाते हो ॥ १८ ॥

अब अर्जुन कहता है, कि हे भगवन ! मैं इतनाही नहीं देखता वरु मैं तो इससे भी अधिक आश्चर्यमय तुम्हें देखरहा हूं, कि—

मू०— अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम्
अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम्
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

पदच्छेदः— अनादिमध्यान्तम् (आदिश्च मध्यञ्चान्तश्च न विद्यते यस्य तम् । उत्पत्तिस्थितिविनाशरहितम) अनन्तवीर्यम् (अपरिमित पराक्रमम्) अनन्तबाहुम् (अनन्ता बाहवो यस्य तम्) शशिसूर्यनेत्रम् (चन्द्रादित्यनयनम) +दीप्तहुताशवक्त्रम (प्रज्वलितवह्निरिव वक्त्राणि यस्य तम अथवा दीप्तहुताशः वक्त्रेषु यस्य) स्वतेजसा (स्वांग कान्त्या । मुखाग्नि दीप्त्या । चैतन्यज्योतिषा वा) इदम्, विश्वम् (सचराचरं जगत) तपन्तम् (सन्तापयन्तम । प्रकाशयन्तम वा) त्वाम्, पश्यामि (अवलोकयामि) ॥ १९ ॥

पदार्थः— (अनादिमध्यान्तम्) आदि, मध्य और अन्तसे रहित (अनन्तवीर्यम्) अमित पराक्रमवाले (अनन्तबाहुम्) अनगिनत बाहुवाले (शशिसूर्यनेत्रम) चन्द्र और सूर्यरूप नेत्रवाले (दीप्तहुताशवक्त्रम) प्रज्वलित अग्निके समान दीप्तिमय मुखवाले और (स्वतेजसा) अपने तेजसे (इदं विश्वम्) इस संसारको

+ हुतमश्नातीति हुताशो वह्निः

(तपन्तम्) तपायमान करतेहुए अथवा प्रकाश करतेहुए (त्वाम् पश्यामि) तुमको मैं देखता हूं ॥ १६ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! मैं तुम को कैसे देखता हूं, कि [**अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्**] आदि, मध्य और अन्तसे रहित देखता हूं और अनन्तबाहुयुक्त तथा सूर्यचन्द्र रूप तुम्हारे नेत्रोंको देखता हूं हे भगवन् ! न कहीं तुम्हारी उत्पत्ति है, न स्थिति है और न नाश है । फिर तुम कैसे हो, कि अनन्त वीर्य हो अर्थात् तुम्हारा पराक्रम अमित है तुम्हारे पराक्रमका अन्त ब्रह्मादिने भी आज तक नहीं पाया ।

शंका— अर्जुनने जो ऐसा कहा, कि तुम्हारा मध्य भी नहीं है स्थिति भी नहीं है ऐसा क्यों कहा ? हां आदि अन्त तो नहीं है अर्थात् उत्पत्ति और नाश नहीं है पर मध्य अर्थात् स्थिति तो अवश्य है फिर ऐसा कहना, कि तुम्हारा मध्य भी नहीं है अयोग्य देख-पडता है ? ।

समाधान— जिस वस्तु-तत्त्वमें आदि अन्त नहीं है उसका मध्य भी नहीं होता क्योंकि यह तो एक साधारण बुद्धिवाला मनुष्य भी समझ सकता है, कि मध्य उसीका नाम है जो आदि अन्तके बीचमें हो फिर जब आदि अन्तका निश्चय ही नहीं है तो मध्य कहना कैसे बन सकता है ? जैसे आकाश जिसका ऊपर भी अन्त नहीं है और नीचे भी अन्त नहीं है अर्थात् आदि अन्तसे रहित है इसलिये कोई भी यह नहीं बता सकता, कि आकाशका मध्य अर्थात्

बीच कहां है वरु सर्वत्र उसका मध्य कहो तो कह सकते हो पर कोई विशेष स्थान उस मध्यके लिये नियत नहीं होसकता।

इसी प्रकार उस ब्रह्मके मध्यको भी समझो ! जिसके मध्य के लिये कोई काल वा स्थान निश्चित नहीं है उसको अमध्य ही कहना चाहिये। दूसरी बात यह है, कि " **कालेनानवच्छेदात्** " इस योगसूत्रके अनुसार वह ब्रह्म कालसे अवच्छिन्न नहीं है वरु काल ही उसके अन्तर्गत है और काल ही की उत्पत्ति, स्थिति तथा अन्त उसके स्वरूपमें है वह कालमें नहीं है क्योंकि वह स्वयं कालस्वरूप है भगवान्‌ने निज मुखारविन्दसे कहा है, कि " **कालः कलयतामहम्** " (अ० १० श्लोक ३०) यदि करोड़ों कल्पोंके समयको एक साथ एकत्र करके गणना कीजावे तो वे भी उस भगवत्‌के सामने ऐसे हैं जैसे हम लोगोंका एक पल वरु इससे भी न्यून कहाजावे तो कहना अयोग्य नहीं होगा। इस कारण अर्जुनका मध्यरहित कहना उचित है हां यदि मध्यका अर्थ स्थिति कीजावे तो कह सकते हैं, कि सदाके लिये है। शंका मत करो।

फिर अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! तुम तो अनन्तवीर्य अर्थात् अपरिमित पराक्रमयुक्त हो। जिसके बल और तेजके वर्णन करनेमें शेष और शारदाकी भी जिह्वाएं रुकी हुई हैं। वेद भी जिसके पराक्रमके विषय नेति नेति कहकर चुप होजाते हैं। इसी कारण तुम्हारे अपरि-मित पराक्रमको देखकर सब देव, देवी तथा मुमुक्षुगण तुम्हें नमस्कार करते हैं। अतएव तुम्हारा नाम '**नमामि**' है जैसा, कि श्रुति

कहती है " ॐ कस्मादुच्यते नमामीति यस्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च " (नृसिंता० द्वितीयोपनित् श्रुति० ४ में देखो) उस प्रभुका नाम 'नमामि' इसलिये है, कि सब देव, ब्रह्मवेत्ता तथा महर्षिगण उसे नमन करते हैं।

फिर अर्जुन कहता है, कि " अनन्तबाहुं शशिसूर्य्यनेत्रम् " हे भगवन् ! मैं तुमको असंख्य भुजावाला देखता हूं तथा ऐसा देखता हूं, कि चन्द्र और सूर्य्य तुम्हारे नेत्र हैं।

फिर अर्जुन कहता है, कि [पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्] हे भगवन् ! मैं तुम्हारे मुखसे प्रज्वलित अग्निकी ज्वालाएं धधकती हुई देखता हूं। अथवा यों अर्थ करलीजिये, कि हे भगवन् ! तुम्हारा मुख सुन्दर आगके भभूकाके समान सुशोभित देख रहा हूं फिर कैसा देखता हूं ? कि अपने तेजसे तुम सम्पूर्ण विश्वको तपायमान कररहे हो अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तुम्हारे तेजको नहीं संभल सकता अरु उस तेजके सम्मुख ब्रह्मादि किसी भी देवकी दृष्टि नहीं ठहरती और न उस तेजके समीप पहुंचकर उसके तापको संभाल सकते हैं। इसलिये मैं तो ऐसा ही देखता हूं, कि सारे विश्वमात्रकी रचना तुम्हारे तेजसे तपायमान होरही है।

फिर 'विश्वमिदं तपन्तम्' कहनेका दूसरा तात्पर्य यह भी है, कि हे भगवन् ! तुम अपनी चैतन्यज्योतिसे इस सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशमान् कररहे हो। अर्थात् इस सम्पूर्ण विश्वमें तुमने जब आत्मज्योति डाली है तभी यह विश्व चेतन हुआ है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि हे भगवन् ! तुमने प्रथम जब इस सृष्टिकी रचना आरम्भकी तब सबसे पहले अपने तेजको स्वीकार कर उस तेजसे ही रचना करना आरम्भ किया। प्रमा० श्रु०—"ॐ तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेऽति तत्तेजोऽसृजत तत्तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति" अर्थात् उसने देखा और इच्छाकी, कि मैं बहुत रूपसे उत्पन्न होऊँ इस प्रकार इच्छा करके प्रथम तेजको सिरजन किया फिर उसे देख इच्छा हुई, कि मैं बहुरूप होजाऊँ।

इसी कारण अर्जुन कहता है, कि हे भगवन ! मैं तुमको अपने सम्पूर्ण तेजद्वारा सारे ब्रह्माण्डको प्रकाशमान करते हुए देखरहा हूं। जिससे मैं ऐसा अनुमान करता हूं, कि तुम्हारी आत्मज्योतिसे ही यह ब्रह्माण्ड चैतन्यमय है नहीं तो सब मृतकके समान देख पडते ॥ १९ ॥

एवम् प्रकार भगवान्के तेजको सर्वत्र व्यापक देखकर अर्जुन अब भगवान्की व्यापकताका वर्णन करता है—

मू०— द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि,
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं,
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

पदच्छेदः—(हे) महात्मन् ! त्वया (विश्वरूपेण) एकेन, हि (निश्चयेन) द्यावापृथिव्योः (ब्रह्माण्डकपालयोः) इदम्, अन्तरम् (मध्यावकाशः । अन्तरिक्षम्) व्याप्तम् [तथा] सर्वाः (पार्श्ववर्त्तिन्यः) दिशः, च [व्याप्ता] तव, इदम, अद्भुतम् (अभिनवम् ।

आश्चर्यमयम्) उग्रम् (भयानकम्) रूपम्, दृष्ट्वा (अवलोक्य) लोकत्रयम् (त्रैलोक्यम्) प्रव्यथितम् (अतिभीतम् । प्रचलितं वा) [पश्यामि] ॥ २० ॥

पदार्थः—(❀ महात्मन्!) हे परमात्मन्! (त्वया एकेन) तुम्हारे इस एक विश्वरूपसे (हि) निश्चय करके (द्यावापृथिव्योः) स्वर्गलोक और पृथिवी लोकरूप कपालोंके (इदम् अन्तरम्) मध्यमें जो यह अन्तरिक्ष है सो (व्याप्तम्) तुम्हारे तेजकरके व्याप्त हो रहा है, (सर्वाः दिशः च) सब दिशाएं भी व्याप्त होरही हैं तथा (तव) तुम्हारे (इदम्) इस (अद्भुतम्) आश्चर्यमय (उग्रम्) भयानक (रूपम्) रूपको (दृष्ट्वा) देखकर (लोकत्रयम्) स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनों लोकनिवासी (प्रव्यथितम्) भयभीत होरहे हैं [पश्यामि] ऐसा मैं देखरहा हूं । इस श्लोकके पदोंको पूर्व श्लोकके 'पश्यामि' पदके साथ अन्वय करना चाहिये ॥ २० ॥

भावार्थः— अब अर्जुन भगवत्स्वरूपको देख भय- भीत होकर उनकी व्यापकताका वर्णन करताहुआ कहता है, कि [द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः] यह जो स्वर्ग और पृथ्वीरूप कपालोंके मध्यमें आकाश देखपडता है जिसे अन्तरिक्ष कहते हैं सो केवल तुम्हारे इस एकही विश्व-

❀ महात्मा— यह शब्द परमात्माके विषय आता है जैसे मनु अ० १ श्लोक ५४ में " युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा यस्मिन् महात्मनि "।

रूपसे व्याप्त होरहा है इतनाही नहीं वरु सब दिशाऐं भी व्याप्त होरही हैं ऐसा मैं देखता हूं।

अर्जुन का मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवत्के विश्वरूपमें सारा ब्रह्माण्ड व्याप रहा है ऐसा देखनेमें आता है।

शंका — जब अर्जुनने ऐसा कहा, कि स्वर्ग और पृथ्वीके अन्तर अर्थात् मध्य आकाशमें भगवान्के स्वरूपको व्यापक देखता हूं ऐसा कहनेसे तो भगवत्स्वरूपमें दोष आगया क्योंकि वह तो निरव-च्छिन्न कहाजाता है। केवल अन्तरिक्षमें व्यापक कहनेसे स्वर्गसे ऊपर महर्लोकादि लोकोंमें तथा पृथ्वीसे नीचे अतल वितलादि लोकोंमें व्यापकता सिद्ध नहीं हुई ?

समाधान— भगवान्की व्यापकतामें तो तनक भी त्रुटि नहीं है वह तो सातों लोक ऊपरसे भी ऊपर तथा सातों लोक नीचेसे भी नीचे सर्वत्र व्यापक है। पर अर्जुन तो केवल अपने देखनेकी बातें कह रहा है अर्थात् अर्जुनकी दृष्टि इस समय स्वर्गसे ऊपर और पृथ्वी से नीचे नहीं जासकती इसलिये जहांतक अर्जुन देखसका है वहां ही तकका वर्णन कररहा है क्योंकि वह कहरहा है, कि 'पश्यामि' मैं तुमको ऐसा देखता हूं। इसलिये यहां अर्जुनने अपनी दृष्टिकी अपेक्षा भगवान्की व्यापकता कही है। शंका मत करो!

शंका— अर्जुनको तो भगवान्ने दिव्यदृष्टि प्रदानकी है फिर वह भगवान्की व्यापकता केवल पृथ्वी और अन्तरिक्षहीमें क्यों देखता है उसे

तो सर्वत्र देखना चाहिये । कोई किसी प्रकारका अद्भुत स्वरूप यदि अन्तरिक्षमें प्रकट हो तो उसे लौकिक चर्मचक्षुवाले भी देख सकते हैं फिर अर्जुनको भगवान्के दिव्यचक्षु प्रदान करनेका फलही क्या हुआ ?

समाधान— इसमें सन्देह नहीं, कि अर्जुनको भगवान्ने दिव्यचक्षु प्रदान किया है पर अबतो अर्जुनको विश्वरूपका दर्शन होगया है इसलिये भगवान् धीरे २ उस दिव्य चक्षुको खींचते चले जारहे हैं अर्थात् शनैः शनैः अर्जुनकी दिव्य दृष्टि मिटतीजाती है । जैसे-जैसे दिव्यचक्षु लुप्त होरहा है वैसे-वैसे अर्जुनकी दृष्टिमें भगवत्के महत् रूपका संकोच होताजाता है । जैसे सन्ध्याकालमें जब धीरे धीरे सूर्यदेवकी ज्योति मलीन होती जाती है तब संसारी पुरुषोंकी दृष्टिसे भी क्रमशः उजियाली हटतीजाती है अन्तमें सूर्यके अस्त होजानेपर कुछ देरतक थोडी वहुत वस्तु तस्तुको प्राणी देखभी सकता है पर फिर अपने नेत्रसे विलग वस्तु तस्तु बिना दीपकादिके नहीं देख सकता इसी प्रकार अर्जुनकी दृष्टिमें धीरे धीरे विश्वरूपका संकोच होता चला जाता है । अथवा यों समझ लीजिये, कि जैसे बच्चोंकी तिलंगियां, बैलून, व्योमयान इत्यादि पृथ्वीपर तो बडे देखपडते हैं पर जब ये सब वस्तु आकाशकी ओर उडती हैं और जैसे-जैसे नेत्रोंसे दूर होती चलीजाती हैं तैसे तैसे छोटी होती चली जाती हैं । इसी प्रकार अर्जुनके नेत्रोंसे जैसे २ विश्वरूरूप दूर होता चलाजाता है वैसे २ छोटा होता चला जाता है । इसलिये अब अर्जुनकी दृष्टि संकुचित होती जाती है और जिस विश्वमूर्त्तिको वह सर्वत्र व्यापक देखता था अब केवल अन्तरिक्षके ही भीतर देखता है । शंका मत करो !

अब अर्जुन कहता है, [दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् !] हे परमात्मन ! तुम्हारे इस आश्चर्यमय भयंकर स्वरूपको देखकर तीनों लोके निवासी थर्रारहे हैं और मारे भयके व्यथित होरहे हैं ।

शंका— पहले तो यह कहागया है, कि अर्जुनकी दृष्टि संकुचित होती चली जाती है इसलिये अर्जुन भगवान्के रूपको छोटा देखता चलाजाता है । अब फिर इसी श्लोकमें अर्जुन कह रहा है, कि तुम्हारे इस भयंकर रूपसे तीनों लोक कम्पायमान होरहे हैं ऐसा मैं देखता हूं । ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं ऐसा क्यों ?

समाधान—जैसे निद्रासे जागते समय मनुष्योंकी दो अवस्थाएं उत्पन्न होजाती हैं जिसे 'उभयतः प्रज्ञ' कहते हैं ऐसी अवस्थामें कभी आंख झिपक जाती है और कभी खुलजाती है अर्थात् कभी तो प्राणी अपनेको चारपाईपर पडा देखता है और कभी स्वप्नमें गन्धर्व-नगरको देखने लगजाता है तात्पर्य्य यह है, कि जाग्रत् और स्वप्न ये दोनों थोडी २ देरके पश्चात दृष्टिमें व्यापती हैं। एवं जब स्वप्नवाली 'तैजसदृष्टि' एकदम लुप्त होजाती हैं तब जाग्रत् अवस्थामें प्राणी अपनी टूटी चारपाई और टूटेफूटे घरको देखनें लगजाता है । इसी प्रकार अर्जुनकी दिव्यदृष्टिकी उभयनिष्ठ अवस्था होरही है अर्थात् जब दृष्टि क्षणमात्रके लिये फैलजाती है तो तीनों लोकोंको भगवत्-रूपसे व्याप्त देखता है और जब संकुचित होजाती है तो केवल अन्त-

रिक्षमें ही उस रूपको देखता है । तात्पर्य्य यह है, कि अर्जुनकी दिव्यदृष्टि एवम्प्रकार झिपकती और खुलतीहुई एकदम मिटजावेगी पश्चात् अपने इन चर्मचक्षुओंसे चार घोडेवाले रथपर श्रीकृष्णचन्द्रको देखेगा ॥ २० ॥

अर्जुनने जो इस श्लोकमें भगवान्के रूपको उग्र अर्थात् भीषण कहा उसे श्रुति भी वैसे ही कहती है । प्र० श्रु०—

" ॐ कस्मादुच्यते भीषणमिति यस्माद्भीषणं यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते स्वयं यतः कुतश्च न बिभेति । भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः । "

(नृसिंहपूर्वता० उ० २ श्रु० ४ में देखो)

अर्थ— उस महाप्रभुको भीषण इसलिये कहते हैं, कि उसके रूपको देखकर सब लोकलोकान्तरके देवगण तथा सब भूतमात्र मानों डरकर भागे चले जारहे हैं परं जो स्वयं किसीसे भी भय नहीं खाता निर्भय है । जिसके भयसे अग्नि प्रज्वलित होती है इन्द्र थर—थर कांपता है तथा पांचवीं मृत्यु जहां-तहां दौड २ कर अपना कार्य कररही है इसी कारण उसका नाम भीषण कहाजाता है ।

अब तुम्हारे इस भयंकरस्वरूपको देखकर अन्तरिक्ष निवासी देवगण मारे डरके क्या कररहे हैं सो अर्जुन स्पष्टरूपसे कहता है—

जाग्रत्को ' स्थूल ' और स्वप्नको ' तेजसभुक् कहते हैं । (देखो माण्डू० श्रु ३ ४)

मू०- अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति,
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसघाः,
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

पदच्छेदः— अमी, सुरसंघाः (विवस्वदादि देवानां समूहाः) त्वाम् (उग्ररूपिणम्) हि (निश्चयेन) प्रविशन्ति (लयं यान्ति) केचित्, भीताः (भययुक्ताः) प्रांजलयः (कृतकरसंपुटाः) गृणन्ति (स्तुवन्ति) महर्षिसिद्धसंघाः (भृग्वादीनां तथा कपिलादीनां महर्षिणां सिद्धानाञ्च समुदायाः) स्वस्ति (कल्याणमस्तु) इति उक्त्वा (उच्चार्य) पुष्कलाभिः (अप्रमेयार्थवतीभिः) स्तुतिभिः (स्तवनपरैः श्रुतिवाक्यैः । गुणोत्कर्षप्रतिपादिकाभिर्वाग्भिः) त्वाम् (विश्वरूपिणम्) स्तुवन्ति (गृणन्ति) ॥ २१ ॥

पदार्थ——(अमी) ये जो (सुरसंघाः) विवस्वान् आदि देवताओंके समूह हैं ये सबके सब (त्वाम्) तुम्हारे विश्वरूपमें (हि) निश्चयकरके (विशन्ति) प्रवेशकररहे हैं इनमेंसे (केचित) कितने तो (भीताः) भयसे कांपतेहुए (प्राञ्जलयः) दोनों हाथोंको जोडेहुए (गृणन्ति) तुम्हारी स्तुति कररहे हैं तथा (महर्षिसिद्धसंघाः) भृगु इत्यादि महर्षिगण और कपिल इत्यादि सिद्धोंके समूह (स्वस्ति) कल्याण हो (इति उक्त्वा) इतना कहकरे (पुष्कलाभिः) नाना प्रकारके गुणानुवादोंकी सूचन करने-

वाली (स्तुतिभिः) स्तुतियोंसे (त्वाम्) तुम्हारे स्वरूपके गुणोंकी (स्तुवन्ति) स्तुति कररहे हैं ॥ २१ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन भगवतके अद्भुत और उग्र अर्थात् परम भयंकर स्वरूपको देखताहुआ जिस प्रकार उस स्वरूपके सम्मुख अन्तरिक्षनिवासी देवादिगणोंको भयभीत देखता है उसी प्रकार उनकी दशाका वर्णन करताहुआ कहता है, कि [**अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति**] हे भगवन् ! मैं एक बहुतबडी आश्चर्यमयी लीला यों देखरहा हूं, कि तुम्हारे इस विश्वरूपमें अन्तरिक्षनिवासी सूर्य्य चन्द्र इत्यादि देवगण प्रवेश करते चलेजारहे हैं और " केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति " कितने तो तुम्हारे उग्रस्वरूपको देख भयसे कांपतेहुए दोनों करपल्लवोंको जोडेहुए और तुम्हारा गुणानुवाद करतेहुए यों कहरहे हैं, कि हे भगवन् ! हमलोग तुम्हारे किंकर तथा पद्मपरागके भ्रमर हैं ।

अब अर्जुन कहता है, कि हेभगवन् ? एक ओर तो इन देवों को देखता हूं फिर दूसरी ओर क्या देखता हूं; कि [**स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः**] भृगु, अंगिरा, वशिष्ठ इत्यादि अनेक महर्षिगण तथा कपिल पतंजलि कणादादि सिद्धगण कल्याणवाचक मंत्रोंसे तथा अनेक प्रकारकी स्तुतियोंसे हे भगवन् ! तुम्हारी वन्दना कररहे हैं क्योंकि ये सिद्धगण यद्यपि अपने योगवलसे सिद्धिको प्राप्त हुए हैं तथापि इनके हृदयमें यह निश्चय है, कि जब तक तुम्हारी कृपा दृष्टि इनपर न हो तबतक इनकी सिद्धियां इनको काम देनेवाली नहीं हैं ।

इस श्लोकका अर्थ, भाष्यकार श्रीशंकराचार्य्यने तथा अन्यान्य टीकाकारोंने जो कुछ किया है वह नीचे लिखा जाता है कि "अमी हि युध्यमाना योद्धारस्त्वां सुरसंघा येऽत्र भूभारावतारायावतीर्णा वस्वादि देवसंघा मनुष्यसंस्थानास्त्वां विशन्ति प्रविशन्तो दृश्यन्ते तत्र केचिद्भीताः प्राञ्जलयः सन्तः गृणन्तिस्तुवन्ति त्वामन्ये पलायनेप्यशक्ताः (सन्तः) युद्धे प्रत्युपस्थिते उत्पातादिनिमित्तान्युपलक्ष्य स्वस्त्यस्तु जगत इति उक्त्वा महर्षि सिद्धसंघा महर्षीणाञ्च सिद्धानाञ्च संघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः संपूर्णाभिः" भाष्यकारका अभिप्राय यह है, कि प्रथम जो अर्जुनने कहा था, कि "**यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः**" (अ० २ श्लो० ६) हम लोग दुर्योधनादिको जीतेंगे अथवा ये दुर्योधनादि हमको जीतेंगे यह हम नहीं जानते । अर्जुनके हृदयकी इस शंकाके निवारणार्थ जो भगवान्ने कुछ विशेषता अपने रूपमें दिखायी है उसे देख अर्जुन कह रहा है, कि "**अमी हि त्वाम्**" हे भगवन् ! ये जो देवताओंके समूह पृथिवीके भार उतारनेके प्रयोजनसे भीष्म, द्रोण इत्यादि मनुष्योंका अवतार लेकर इस युद्धमें योद्धारूपसे युद्ध करतेहुए दिखायी देते हैं इन सबोंको मैं अपने नेत्रोंसे देखरहा हूँ, कि तुम्हारे स्वरूपमें प्रवेश करते चले जारहे हैं । इनमें कितने तो भयभीत होकर तुम्हारी स्तुति कररहे हैं और कितने इस युद्धसे अब भागजानेमें भी असमर्थ होनेके कारण अपने प्राणोंका नाश देखरहे हैं । इसीलिये वे डरतेहुए और थर्राते हुए तुम्हारी स्तुति कररहे हैं । इनसे इतर मैं यह भी देख रहा हूं, कि भृगु, अंगिरा, वशिष्ठ तथा नारदादि महर्षिगण और कपिल, दत्तात्रेय इत्यादि बडे२ सिद्धगण यह

विचारकर, कि इस युद्धसे संसारका नाश न होजावे नाना प्रकारके उत्पातोंके दूर करनेके तात्पर्यसे जगत्के कल्याण निमित्त वेदोंके मन्त्रोंसे तथा अन्यान्य नाना प्रकारकी स्तुतियोंसे तुम्हारी जय मनारहे हैं अर्थात् रक्ष! रक्ष! पाहि! पाहि! त्राहि! त्राहि! ऐसे अनेक प्रकारके कल्याणसूचकवाक्योंका उच्चारण करतेहुए तुम्हारे सम्मुख खडे हैं। इसी अर्थकी छाया लेकर नीलकण्ठ, मधुसूदन, श्रीधर इत्यादि टीकाकारोंने भी इस श्लोककी टीका करदी है। फिर आनन्दगिरिने यहां पाठ बदलकर यों अर्थ किया है, कि "अमी हि त्वामसुरसंघाः" अर्थात् ये जो दुर्योधनादि असुरोंके अवतार संसारको नाना प्रकारके क्लेशदेनेकेलिये मनुष्यरूपमें प्रकट हुए हैं ये सबके सब हे भगवन्! तुममें प्रवेश करते चले जारहे हैं ॥ २१ ॥

अब अर्जुन अगले श्लोकमें यह दिखलाता है, कि हे भगवन्! ये देवगण केवल भयभीत होकर स्तुतिही नहीं करते हैं वरु तुम्हारे स्वरूपको देखकर आश्चर्यान्वित हो दाँतोंसे अंगुलियां काट रहे हैं। वे कौन२ हैं सो सुनो!

मू०— रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

पदच्छेदः— ये, रुद्रादित्याः (एकादशरुद्रास्तथा द्वादशादित्याः) वसवः (अष्टौ वसुनामकदेवगणाः) च, साध्याः

(द्वादशसाध्यदेवाः) विश्वे (विश्वेदेवशब्देनोच्चार्यमाणा देव-गणाः) अश्विनौ (द्वौ अश्विनीकुमारौ) मरुतः (ऊनपञ्चाशन्मरुद्गणाः) च, उष्मपाः (उष्णान्नं पिबन्ति भक्षयन्ति ये ते पितृगणाः) च (तथा) गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः (चित्ररथादयो गन्धर्वाः कुवेरादयो यक्षास्तथा विरोचनादयोऽसुराः कपिलादयः सिद्धा एतेषां समुदायाः) सर्वे, एव, * विस्मिताः (विस्मयान्विताः । विगतः स्मयो गर्वो येषां ते नष्टगर्वा देवाः) [सन्तः] त्वाम् (विश्वरूपिणम्) वीक्षन्ते (मौनेन पश्यन्ति) ॥ २२ ॥

पदार्थः— (ये रुद्रादित्याः) ये जो एकादश रुद्र तथा द्वादश आदित्य हैं फिर (वसवः) आठों जो वसु हैं (च) और (+ साध्याः) द्वादश जो साध्य नामक देवगण हैं (विश्वे) संपूर्ण विश्वमें जितने देव हैं तथा (अश्विनौ) दोनों जो अश्विनी और कुमार हैं (मरुतः) उनचासों जो वायुदेव हैं (च उष्मपाः) उष्ण अन्नके भोजन करनेवाले जो पितृगण हैं (च) और (गन्धर्व-यक्षासुरसिद्धसंघाः) चित्ररथादि गन्धर्व, कुवेरादि यक्ष, विरोचनादि

* विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु। विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः।

(साहित्यदर्पणम्)

+ मनो मन्ता तथा प्राणो नरोऽपानश्च वीर्यवान् । विनिर्भयो नयश्चैव दंसो नारायणो वृषः । प्रभुश्चेति समाख्याता साध्या द्वादश पौर्विकाः । (वह्निपुराण भेदनामाध्यायमें देखो)

असुर और कपिलादि सिद्धोंके समुदाय (सर्वे एव) ये सबके सब निश्चय करके (विस्मिताः) आश्चर्यसे भरेहुए (त्वाम्) तुम्हारे स्वरूपको (वीक्षन्ते) एक टक लगाये देख रहे हैं ॥ २२ ॥

भावार्थः—— अब अर्जुन इस श्लोकमें यह दिखलाता है, कि जैसे मैं विस्मयसे भराहुआ तुम्हारे अद्भुत स्वरूपको देखरहा हूँ इसी प्रकार ये देवगण भी केवल भयभीत होकर तुम्हारी स्तुति ही नहीं करते हैं वरु आश्चर्यसे भरेहुए तुम्हारे स्वरूपको टकटकी लगाये देख रहे हैं । एवम्प्रकार अपने मनके भावको प्रगट करताहुआ अर्जुन भगवान्के सम्मुख कह रहा है, कि [रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च] ग्यारहों रुद्रनामके देव, बारहों आदित्यनामके देव आठों वसु नामके देव, बारहों साध्यनामके देव फिर संपूर्ण विश्वके देव, दोनों अश्विनी कुमार, उनचासों वायु और उष्ण अन्नके भोजन करनेवाले पितृगण तथा [गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे] गन्धर्व, यक्ष और असुरोंके जो समुदाय हैं ये सबके सब आश्चर्यभरी दृष्टिसे तुम्हारी ओर देखरहे हैं ।

अब यहां " गन्धर्व " शब्दकी व्याख्या कीजाती है—

" गन्धं संगीतवाद्यादिजनितप्रमोदं अर्व्वति प्राप्नोतीति गन्धर्वः "

अर्थात् गाने बजानेसे जो आनन्द अर्थात् हर्षको प्राप्त करे उसे कहिये गन्धर्व । सो इनके प्रथम दो भेद हैं— मनुष्यगन्धर्व और देवगन्धर्व ।

प्रमाण श्रुतिः— " ॐ ते ये शतं मानुषानन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः स देवगन्धर्वाणामानन्दः ॥ " (तैत्ति० श्रु० ३२)

अर्थ— मनुष्योंमें १०० चक्रवर्त्तीका जो आनन्द है सो एक मनुष्यगन्धर्वका आनन्द है फिर जो १०० मनुष्य गन्धर्वोंका आनन्द है वह एक देवगन्धर्वका आनन्द है । और वेदभी कहता है, कि देवलोकमें जो दिव्यगानसे देवगणोंको आनन्द देवे उसे देवगन्धर्व कहते हैं—

प्रमाण ऋग्वेद— " ॐ विश्वावसुरेभि तन्नो गृणातु दिव्यो गन्धर्वो रजसो विमानः " १० । १३९ । ५ इन देव गन्धर्वोंके ग्यारह गण हैं– " अभ्राजोऽङ्घारिवम्भारी सूर्य्यवर्चास्तथा कृधुः । हस्तः सुहस्तः स्याच्चैव मूर्द्धन्वाश्च महामनाः । विश्वावसुः कृशानुश्च गन्धर्वैकादशगणाः " (इति पद्मपुराणे गणभेद-नामाध्याये)

१. अभ्राज, २. अंघारि, ३. वंभारी, ४. सूर्य्यवर्चा, ५. कृधु, ६. हस्त, ७. सुहस्त, ८. मूर्द्धन्वा, ९. महामना, १०. विश्वावसु और ११. कृशानु ये ग्यारह गन्धर्वोंके गण हैं । इन गन्धर्वोंमें जो प्रसिद्ध और श्रेष्ठ गन्धर्व हैं उनके नाम लिखेजाते हैं । हाहा, हूहू, चित्ररथ, हंस, विश्वावसु, गोमायु, तुम्बुरु और नन्दी ये गन्धर्वोंमें श्रेष्ठ गन्धर्व हैं ।

अर्जुनका मुख्य तात्पर्य यह है, कि हे भगवन ! वसु रुद्र इत्यादि देवगण जिनका सांगोपांग वर्णन (अ० १० श्लोक २२, २३ में) कर

आये हैं वे तथा चित्ररथ, हंस इत्यादि गन्धर्व, दैत्यराज, बाणासुर, वृत्रासुर, बकासुर, विरोचनादि असुर और गौतम कपिलादि सिद्ध एकटक लगाये तुम्हारे ध्यानमें मग्न होकर हे भगवन्! "वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे" ये सबके सब विस्मित होकर तुम्हारे उग्रस्वरूपकी ओर देखरहे हैं अर्थात् ये जितने देव हैं इनके अपने २ देवत्व, प्रभुत्व, बल इत्यादिकी शक्ति तुम्हारे स्वरूपके देखते ही दूर होगयी जैसे कर्पूरकी डली वायुके लगते ही उडजाती है ऐसे इन देवगणोंका वैभव एकबारगी जाता रहा अतएव ये सबकेसब पत्थरकी मूर्त्तिके समान एकटक लगाये दाँतोंसे अंगुलियोंको दबाये तुम्हारी ओर चुप हो देखरहे हैं।

भगवानके जिस अद्भुत और उग्ररूपको देखकर ये सब देवगण भयभीत और विस्मित होरहे हैं अब अर्जुन उस रूपका वर्णन पूर्णप्रकार करता हुआ कहता है—

मू०— रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥ २३ ॥

पदच्छेदः— [हे] महाबाहो ! (महान्तः निग्रहानुग्रहकरणे समर्थौ बाहवो यस्य तत्सम्बुद्धौ महाबाहो!) ते (तव) बहुवक्त्रनेत्रम् (बहूनि अपरिमितानि वक्त्राणि मुखानि नेत्राणि नयनानि यस्मिन् तत्) बहुबाहूरुपादम् (बहवः बाहव उरवः पादाश्चरणाश्च यस्मिन् तत्) बहूदरम् (बहूनि उदराणि यस्मिन् तत्) बहुदंष्ट्रा-

करालम् (बहुभिः दंष्ट्राभिः करालम् भयानकम) महत् (अप-रिच्छिन्नम । अति प्रमाणम । आदिमध्यान्तरहितम) रूपम (विश्वरू-पम) दृष्ट्वा (अवलोक्य) लोकाः (चतुर्दशभुवनस्थाः प्राणिनः) तथा, अहम्, प्रव्यथिताः (प्रकर्षेण दुःखं प्राप्ताः । भयेन प्रच-लिता वा) ॥ २३ ॥

पदार्थः— (महाबाहो !) हे विशालभुजावाले ! (ते) तुम्हारे (बहुवक्त्रनेत्रम्) अनेक मुख और आंखवाले तथा (बहुं-बाहूरुपादम्) असंख्य भुजा, जंघा और चरणवाले (बहूदरम्) बहुतेरे उदरवाले, (बहुदंष्ट्राकरालम्) असंख्य दांतोंसे भीषणताको प्राप्त (महत) बहुत विशाल (रूपम) विश्वरूपको (दृष्ट्वा) देखकर (लोकाः) चौदहों भुवननिवासी प्राणी (प्रव्यथिताः) मारे भयके कांपरहे हैं (तथा) उसी प्रकार (अहम्) मैं भी कांप रहा हूं ॥ २३ ॥

भावार्थः—अब अर्जुन अतुल पराक्रमी और अनन्त ऐश्वर्य्य-शाली भगवानके उस भयानक और रौद्र रससे भरेहुए रूपके वर्णनका पूर्ण प्रकार उपसंहार करता हुआ कहता है, कि [रूपं महत्ते बहुवक्त्र-नेत्रं महाबाहो ! बहुबाहूरुपादम्] हे महाबाहो ! अर्थात प्राणियोंके निग्रह तथा उनपर अनुग्रह करनेके निमित्त विशाल भुजाओंके धारण करनेवाले मेरे परमरक्षक ! तुम्हारे असंख्य मुख, असंख्य नेत्र, असंख्य जंघे, असंख्य भुजाएं और असंख्य चरणोंसे युक्त [बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्] बहुत

बडे-बडे उदर और विकराल कालके समान दांतवाले भयंकर स्वरूपको देखकर संपूर्ण विश्वमात्रके जीव प्रकम्पित होरहे हैं और मैं भी थर्रा रहा हूं ।

इस महाविकराल भयंकर स्वरूपको देखकर चौदहों भुवनके निवास करने वाले देव, गन्धर्व, किन्नर, नाग, नर, सिंह, व्याघ्र इत्यादि सबही चीख मारमारकर मारे भयके न जाने किधर भागनेकी इच्छा कररहे हैं इनको ऐसा बोध होरहा है, कि आजही महाप्रलय होनेवाला है । आपके लम्बे २ दातोंके बीच जो बडी--बडी फैलीहुई रक्तवर्ण जिह्वाएं लटकरही हैं उनसे ऐसा भान होता है, कि कालने सम्पूर्ण विश्वको भूनकर कलेवा करनेके निमित्त जहां तहां अनगिनत चूल्हे बाल दिये हैं जिनसे बलतेहुए ईंधनकी ज्वालाओंकी लपट निकली चली आरही है । हे भगवन् ! यदि यह कहो, कि मेरे इस रौद्रस्वरूपको देखकर सारा ब्रह्माण्ड तो पलायमान होरहा है पर तू तो शान्त और निर्भय होरहा है सो हे नाथ ! यद्यपि तुम्हारा पूर्ण अनुग्रह मुझपर है तथापि जैसे तुमसे सब भयभीत होरहे हैं ऐसे मैं भी इस स्वरूपको देखकर कांप रहा हूं । तुम्हारे भयके कारण एडीसे चोटीतक सर्वांग शरीर पसीनोंसे लथपथ होरहा है, आंखें मिची चलीजारही हैं, यहां तक, कि देखा भी नहीं जाता, मुखका रंग विकृत होरहा है, हृदय कांपरहा है, गला रुंधरहा है और अन्तःकरण अपने स्थानपर नहीं है सो मेरी भी दशा इनसे किसी भी प्रकार न्यून नहीं है ॥ २३ ॥

और अब कैसी दशा होरही है सो सुनो—

मू०— नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं,
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमञ्च विष्णो ! ॥
॥ २४ ॥

पदच्छेदः— [हे] विष्णो ! (वेष्टयति व्याप्नोतीति विष्णुः तत्सम्बुद्धौ हे विष्णो ! हे व्यापनशील !) नभस्पृशम् (अन्तरिक्षव्यापिनम् । आकाशसंचारितम्) दीप्तम् (तेजोमयम्) अनेकवर्णम् (वहवः वर्णाः यस्य तम् नानासंस्थानयुक्तम्) व्यात्ताननम् (विवृतानि मुखानि यस्मिन् तम्) दीप्तविशालनेत्रम् (प्रज्वलितविस्तीर्णचक्षुषम्) त्वाम् (अभिनवरूपम्) दृष्ट्वा (अवलोक्य) हि (निश्चयेन) प्रव्यथितान्तरात्मा (प्रभीतान्तरात्मा) अहम्, धृतिम् (धैर्य्यम्) शमम् (शान्तिम् । मनस्तुष्टिम्) च, न, विन्दामि (लभे) ॥ २४ ॥

पदार्थः— (विष्णो !) हे सर्वत्रव्यापनशील विष्णुभगवान् (नभःस्पृशम्) आकाशसे छूताहुआ (दीप्तम्) प्रज्वलित (अनेकवर्णम्) नाना प्रकारके रंगोंसे युक्त (व्यात्ताननम्) फैले हुए हैं मुख जिसमें और (दीप्तविशालनेत्रम्) आग वभूकाके समान बलतेहुए विशाल-विशाल नेत्र हैं जिसमें ऐसे (त्वाम्) तुम्हारे रूपको (दृष्ट्वा) देखकर (हि) निश्चय करके (प्रव्यथितान्तरात्मा) मैं जो व्यथा पाया हुआ अर्थात् अन्तःकरणसे कंपायमान एक जीवात्मा हूं

सो (धृतिम्) धैर्य्यको तथा (शमम्) शान्तिको (च) भी (न विन्दामि) नहीं पाता हूं अर्थात् इस रूपको देखकर मेरा मन घबरा रहा है और शरीरकी सुधि नहीं है ॥ २४ ॥

भावार्थ:---अब अर्जुन भगवान्के जिस भयंकर स्वरूपको देखकर कंपायमान हुआ है उस स्वरूपका वर्णन करता हुआ कहता है, कि [नभस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्] हे भगवन्! तुम्हारे विस्तृत और परम विशाल मुखके ऊपरका होंठ आकाशको और नीचेका होंठ पातालको स्पर्श कररहा है तात्पर्य्य यह है, कि जहांतक आकाशसे पाताल पर्य्यन्त मेरी दृष्टि जाती है तहांतक तुम्हारेही मुखको फैला हुआ देखता हूं मानो! कालके काल महाकालको भी ग्रसनेके लिये आज तुमने न जाने क्यों इस प्रकार मुखको फैला रखा है तिसमें भी आश्चर्य्य यह है, कि यह तुम्हारा मुख दीप्त है अर्थात् जिसकी ज्वालासे तीनों लोक तप्त होरहे हैं तथा जिसमें अनेक वर्ण हैं जैसे अग्निमें अरुण, श्वेत, पीत, नील, श्याम इत्यादि अनेक वर्ण प्रकाशित देख पडते हैं ऐसे तुम्हारे मुखके भीतर अग्निकी प्रदीप्त ज्वालाका पूर्ण प्रकाश अनेक प्रकारके वर्णोंके साथ देख पडता है। इसी प्रकार तुम्हारे लाल-लाल नेत्र अग्निज्वालासे भरे हुए परम विशाल हैं मानो! त्रिलोकीको भस्म करदेनेके लिये आज तुमनें अपने नेत्र खोल दिये हैं। तथा---

[दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमञ्च विष्णो!] हेविष्णो! तुम्हें देखकर मैं जो प्रव्यथित जीवात्मा अर्जुन सो शान्ति और धृतिको प्राप्त नहीं करता हूं अर्थात्

हे विष्णो ! हे सर्वत्त व्यापनेवाले ! मैं इस समय भीतरसे अर्थात् अन्तःकरणसे (प्रव्यथित) कंपायमान और व्याकुलात्मा होरहा हूं अतएव चाहता हूं, कि तुम्हारे अनुग्रहको स्मरण करके धीरज धरूं। क्योंकि मुझे अभीतक स्मरण है, कि तुम वही हो जो मन्द २ मुसकाते हुए मुझे बार बार अपना सखा और अपना प्रिय कहकर रथपर पुकारते थे पर इन बातोंके स्मरण रहतेहुए भी यह तुम्हारा भयानक और रौद्रस्वरूप ऐसा डरांवना कालके समान देख पडता है, कि मैं लाख ढाढस बांधकर धीरज धर तुम्हारे सम्मुख खडा रहना चाहता हूं पर क्या करूं न तो मुझे धैर्य्य ही है और न शान्तिहीकी उपलब्धि है। जी चाहता है, कि आंखे बन्दकर यहांसे किसी ओर भाग जाऊं पर आंख मींचनेपर भीतर भी तुम्हारा यही स्वरूप मुझे देख पडता है और जिधर भागनेके लिये पांव उठाना चाहता हूं उधर ही तुमको देखता हूं इसी कारण मैं इस समय 'प्रव्यथितान्तरात्मा' होरहा हूं अर्थात न आगे पांव उठता है, न पीछे पांव हटता है और न खडा ही रहनेका साहस है मैं तो किंकर्तव्य विमूढ होकर बहुतही घबडा रहा हूं।

अर्जुनने जो भगवानको यहां 'विष्णो' कहकर पुकारा है इसका यही अभिप्राय है, कि भगवान्का स्वरूप व्यापक है जिधर देखता है ऊपर-नीचे, दायें-बायें, आगे-पीछे आंख खोलनेपर भी और आंख बन्द करनेपर भी सर्वत्र बाहर भीतर वही स्वरूप देखपडता है इसीलिये अर्जुनने 'विष्णो' कहकर उस महाप्रभुकी व्यापकताकी सूचना दी है ॥ २४ ॥

अब अर्जुन भगवान्के इस उग्र स्वरूपका वर्णन समाप्त करता-

हुआ अपनी व्याकुलदशाको स्पष्टरूपसे दिखलाताहुआ भगवान्‌से यों प्रार्थना करता है—

मू०— दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि,
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म्म
प्रसीद देवेश! जगन्निवास!॥ २५ ॥

पदच्छेदः— [हे] देवेश! (देवानामीश!) हे जगन्निवास! (जगतां स्थितिस्थानं यस्मिन् अथवा जगति निवासो यस्य सः तत्सम्बुद्धौ) दंष्ट्राकरालानि (विकटदंष्ट्राभिः भयानकानि) [तथा] कालानलसन्निभानि (प्रलयकालाग्निसदृशानि जाज्वल्यमानानि) ते (तव) मुखानि (वक्त्राणि) च, दृष्ट्वा (अवलोक्य) एव, दिशः (दिग्विभागम) न, जाने (जानामि) शर्म (सुखम्) च, न, लभे (प्राप्नोमि) [तस्मात्] प्रसीद (प्रसन्नो भव) ॥ २५ ॥

पदार्थः— अर्जुन व्याकुल होकर कहता है, कि (देवेश!) हे देवताओंके ईश महादेव! तथा (जगन्निवास!) हे सम्पूर्ण जगत्‌के निवासस्थान अथवा सम्पूर्ण जगत्‌में निवास करनेवाले (दंष्ट्राकरालानि) विकट और बडे-बडे भयंकर दांतोंसे युक्त तथा (कालानलसन्निभानि) कालाग्निके समान जाज्वल्यमान (ते मुखानि च) तुम्हारे असंख्य मुखोंको (दृष्ट्वा) देखकर (एव) निश्चय करके (दिशः) दिशाओंको (न जाने) मैं नहीं जान सकता हूं और (शर्म्म च) सुखको भी (न लभे) नहीं प्राप्त कर-

सकता हूं इसलिये हे नाथ ! (प्रसीद) मुझपर प्रसन्न हो जाओ ॥ २५ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन विकट स्वरूपको देखते-देखते अत्यन्त व्याकुल हो भगवतकी प्रसन्नता निमित्त प्रार्थना करता हुआ कहता है, कि [दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि] बडे-बडे भयंकर डाढोंसे युक्त तथा प्रलयकालकी आगके समान धधकते हुए तुम्हारे मुखको देखकर मेरी कैसी बुरी दशा होरही है सो सुनो ! अर्थात् मैं (अर्जुन) जिसने कभी कालकाभी भय नहीं किया, बडे-बडे भयंकर और धुरन्धर राक्षसोंको तृणके समान जाना, निवातकवच नाम भयावह राक्षसकी तीन करोड विकट राक्षस सेनाओंसे मैं तनकभी व्याकुल नहीं हुआ। इतना बलिष्ट हृदय और अन्तःकरण रहनेपर भी आज हे भगवन् ! तुम्हारे इस भयंकर स्वरूपको देखकर अत्यन्त ही व्याकुल होरहा हूं और मैं यहांतक घबरागया हूं, कि [दिशो न जाने न लभे च शर्म्म प्रसीद देवेश ! जगन्निवास !] हे सम्पूर्ण जगत्‌में निवास करनेवाले स्वामिन् ! मुझे इस समय न तो दिशाओंका ज्ञान है और न सुखकी ही प्राप्ति है सो तुम मुझपर प्रसन्न होजाओ ! अर्थात् मुझे पूर्व, पश्चिम इत्यादि दिशाओंकी कुछभी सुधि नहीं है। मैं यह भी नहीं जानता, कि मैं किस सुख हूं, कहां हूं, कौन हूं और कैसे हूं ? सो हे भगवन् ! इस समय मुझे किसी प्रकारकी कुछभी सुधि नहीं है यद्यपि सहस्रों युक्तियोंसे मैं अपने मनको सन्तोष दिया चाहता हूं और सुखी किया चाहता हूं पर मेरा मन किसी प्रकार भी परितुष्ट

नहीं होता । कहां जाऊँ ? किससे अपने मनकी व्यथा कहूं ? कौन मुझको इस व्यग्रतासे स्थिर करसकता है ? मेरी समझमें कुछ भी नहीं आता । इस कारण "प्रसीद देवेश! जगन्निवास!" हे देवोंके देव महेश्वर! सम्पूर्ण जगत्में व्यापक तथा संपूर्ण जगतको अपने एक रोममें लटकानेवाले ! अब तुम मेरी इस व्याकुलतासे परिपूर्ण दशाको देख हे मेरे परम स्वामी ! मेरी ओर प्रसन्न होकरे मुझपर दयादृष्टि करो ! और मेरी व्यथाका नाश करो ! ॥ २५ ॥

यदि कहो, कि हे अर्जुन ! तू व्याकुल क्यों होता है मैं तो तुझपर प्रसन्न ही हूं जभी तो मैंने तुझको अपना विश्वरूप दिखलाया है तो हे भगवन् ! इस तुम्हारे विश्वरूपको देखकर अधिक व्याकुल और भयभीत होनेका कारण क्या है ? सो सुनो !

मू०— अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः,
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ,
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति,
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु,
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥

पदच्छेदः— अवनिपालसंघैः (शल्यजयद्रथादिराज्ञां समूहैः) सह (सहितः) अमी, धृतराष्ट्रस्य, सर्वे, पुत्राः (दुर्योधनादयः) च, एव, तथा, भीष्मः (पितामहः । भीष्माचार्य्यः)

द्रोणः (द्रोणाचार्य्यः) असौ, सूतपुत्रः (कर्णः) अपि, अस्मदीयैः (अस्माकम) योधमुख्यैः (शिखंडि धृष्टद्युम्नादि भटानां प्रधानैः) सह, त्वरमाणाः (त्वरायुक्ताः धावन्तः) ते, दंष्ट्राकरालानि (दंष्ट्राभिः विकृतानि) भयानकानि (भयंकराणि) वक्त्राणि (मुखानि) विशन्ति (प्रवेशं कुर्वन्ति) [तेषां मध्ये] केचित्, चूर्णितैः (चूर्णीकृतैः) उत्तमांगैः (मस्तकैः) [तव] दशनान्तरेषु (दंष्ट्राणां संधिषु) विलग्नाः (भक्षितमांसमिव विशेषेण संश्लिष्टाः) संदृश्यन्ते (उपलभ्यन्ते) ॥ २६, २७ ॥

पदार्थः— (अवनिपालसंघैः) शल्य तथा जयद्रथादि राजाओंके समूह (सह) सहित (अमी) ये (धृतराष्ट्रस्य) धृतराष्ट्रके (पुत्राः) दुर्योधनादि सौ पुत्र (च) भी (एव) निश्चय करके (त्वाम्) तुम्हारेमें प्रवेश कररहे हैं (तथा) और (भीष्मः) भीष्मपितामह (द्रोणः) गुरु द्रोणाचार्य्य और (असौ) यह (सूतपुत्रः) सूतका बेटा राजा कर्ण (अपि) भी (अस्मदीयैः) हमलोगोंको अपने (योधमुख्यैः सह) शिखंडी और धृष्टद्युम्नादि प्रधान योद्धाओंके सहित (त्वरमाणाः) बडी शीघ्रताके साथ दौडतेहुए (ते दंष्ट्राकरालानि) तुम्हारे विकट दांतोंसे भरेहुए (भयानकानि) भयंकर (वक्त्राणि) मुखोंमें (विशन्ति) घुसते चले जारहे है इनमेंसे (केचित्) कोई-कोई (चूर्णितैः) चूर्ण हुए अर्थात् कुचलेहुए (उत्तमांगैः) मस्तकोंके साथ तुम्हारे (दशनान्तरेषु) दांतोंके बीच-बीचमें (विलग्नाः) लगेहुए (संदृश्यन्ते) देखेजाते हैं ॥ २६, २७ ॥

भावार्थः— भगवतके प्रसन्न रहते हुए भी अर्जुनने जो पिछले श्लोकमें कहा, कि हे जगन्निवास ! मुझपर प्रसन्न होत्रो तिसका कारण इन २६, २७ दोनों श्लोकोंमें स्पष्टरूपसे वर्णन करता है, कि [**अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः**] ये जो धृतराष्ट्रके दुर्योधनादि सौ पुत्र हैं ये सबके सब शल्य, जयद्रथादि बडे-बडे नरपतिसमूहके साथ तुम्हारे स्वरूपमें प्रवेश करते जारहे हैं। मैं ऐसा देख रहा हूँ, कि केवल ये ही नहीं वरु इनसे इतर अन्य जो [**भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः**] पितामह भीष्म और गुरु द्रोण और मेरा परम विद्वेषी " सूतपुत्र " (राजा कर्ण) मेरे कटकके प्रधान-प्रधान वीर शिखंडी और धृष्टद्युम्न इत्यादि [**वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि**] बडी शीघ्रताके साथ दौडते हुए तुम्हारे मुखमें घुसे चले जारहे हैं जिसके अन्तर्गत तुम्हारे विकराल और भयानक दांत लगे हुए हैं। जैसे किसी बडे अन्धड झक्कडके झोकोंसे मारे हुए छोटे-छोटे पतंगे किसी पर्वतकी कन्दराओंमें बडी शीघ्रतासे भागे हुए प्रवेश करते जाते हैं ऐसे ये सबके सब वीरगण तुम्हारे महा झंझावात कालरूप मुखमें घुसते चले जारहे हैं। वह तुम्हारा मुख कैसा है ? कि जिसमें बडे-बडे बिकट डरावने अर्थात् विकराल कालको हंसते-हँसते चवेनाके समान चबाने वाले परम कठोर और बडे-बडे डाढवाले दांत हैं जो अत्यन्त भयको उपजाने वाले हैं।

अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! ऐसी दशा देख मुझेतो पूर्ण भय होरहा है क्योंकि मैं तो यह समझ रहा था, कि महा-

भारतकी रणभूमिमें सेनाओंके किलकिला शब्द, शंख और भेरीकी ध्वनि, वीरोंका सिंहनाद, धनुषकी प्रत्यंचाओंकी टंकार, हथियारोंकी झंकार और रथोंकी वज्रतुल्य घरघराहटसे आकाश मंडल गूंज उठेगा और सब दिशाएं भर जांयगी एवम्प्रकार धनुष बाण, तलवारें, गदा, शक्ति इत्यादि सैकडों प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सजेहुए दोनों सेनादल ऐसे दीखेंगे जैसे प्रलय होनेके समय सैकडों प्रकारके उन्मत्त मगर आदि जीवोंसे युक्त उछलते हुए दो समुद्र मालूम हों परन्तु मैं तो यहां कुछ और ही अभिनय देख रहा हूं, कि इनमेंसे [केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः] कोई-कोई तो तुम्हारे दाँतोंके नीचे चूर्ण होकर इस प्रकार खण्ड-खण्ड होरहे हैं जैसे चक्कीमें नाज पिसजानेसे उस नाजकी गुदी अलग निकल कर चूर २ होजाती है और कितनोंके उत्तमांग जो मस्तक हैं वे तुम्हारे दाँतोंसे चूर २ होगये हैं और उनसे मज्जा निकल-निकल कर तुम्हारे दांतोंकी सन्धियोंमें लटकरही हैं जैसे मांसभोजी सिंह अथवा व्याघ्रादि पशुओंके दांतोंकी संधियोंमें, अथवा मांसहारी मनुष्योंके दाँतोंके रन्ध्रोंमें मांसके लच्छे अटकेहुए और लटकेहुए देखपडते हैं ऐसे ही इन वीरोंके मस्तककी गुदियां तुम्हारे दांतोंमें, होठोंमें तथा रन्ध्रोंमें लटकी हुई दीख पडती हैं अर्थात् तुमने इस समय बडीही डरावनी मूर्त्ति धारणकी है तुम्हारे इस स्वरूप रूप महाभारतकी भूमिमें असंख्य वीरोंके हाथ पैर, रुण्ड मुण्ड, अनगिनत हाथीघोडोंके लोथ, वहुमूल्य घंटीदार रथ, चित्रविचित्र सोनेके कवच इत्यादि पडेहुए हैं। बचेखुचे वीरोंके शरीर सुन्न हो रहे हैं और कोई डरसे चिल्लाचिल्लाकर प्राण छोडरहे हैं।

अर्जुनके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जब इस महाभारतके सब योद्धाओंके मस्तक (चाहे वे मेरे दलके वा मेरे शत्रुके दलके हैं) तुम्हारे मुखमें चूर्ण—चूर्ण देखपडते हैं तो क्या आश्चर्य है, कि इनहीमें कहीं मेरा भी मस्तक न हो। यदि कहो, कि तेरा मस्तक होता तो तू खडा कैसे रहता तू तो अपनेको पिसा॰हुआ देखता, सो हे भगवन ! ऐसा मैं कैसे मानूं ? क्योंकि जिन॰जिनके मस्तकोंको मैं तुम्हारे मुखमें चूर्ण हुआ देखता हूं वे भी तो विचारे इस युद्धमें खडेही हैं उनको भी कुछ भान नहीं होता है इसी प्रकार मुझको भी अपने मस्तकके चूर्ण होनेका भान नहीं होता। अतएव मैं मारे भयके कांपरहा हूं और परम व्यथासे व्यथित होरहा हूं सो हे भगवन् ! मैं तुमसे वार-वार प्रार्थना करता हूं, कि हे देवोंके ईश ! जगन्निवास ! मुझपर प्रसन्न होवो ॥ २६, २७ ॥

अब अर्जुन अगले दो श्लोकोंमें ज्ञानी और अज्ञानी दोनों प्रकारके वीरोंको भगवनमुखमें प्रवेश करनेका उदाहरण देताहुआ कहता है—

मू॰— यथा नदीनां वहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशंति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

पदच्छेदः— यथा (येन प्रकारेण) नदीनाम् (अनेकमार्गप्रवृत्तानां गंगाद्यानाम्) वहवः (अनेकाः) अम्बुवेगाः (उदकानां प्रवाहाः) अभिमुखाः (आभिमुख्येन प्रवर्त्तमानाः) [सन्तः] समुद्रम (सागरम्। लवणार्णवम्) एव, द्रवन्ति (विशन्ति) तथा

अमी, नरलोकवीराः (मनुष्यलोकशूराः) अभिविज्वलन्ति (आसमन्तात् विशेषेण प्रदीप्यमानानि सर्वतो जाज्वल्यमानानि) तव, वक्त्राणि (मुखानि) विशन्ति ॥ २८ ॥

पदार्थः—(यथा) जैसे (नदीनाम्) गंगा इत्यादि नदियोंकी (बहवः) बहुतेरी (अम्बुवेगाः) जलकी धाराएं (अभिमुखाः) किसी सागरके सन्मुख होतीहुई (समुद्रम्) उस सागरमें (एव, निश्चय करके (द्रवन्ति) जा मिलती हैं (तथा) तैसे ही (अमी) ये (नरलोकवीराः) मनुष्यलोकके बड़े-बड़े वीर (अभिविज्वलन्ति) जाज्वल्यमान (तव वक्त्राणि) तुम्हारे मुखोंमें (विशन्ति) प्रवेश कर रहे हैं [ऐसा मैं देखता हूं] ॥ २८ ॥

भावार्थः - भगवत्के विराट्स्वरूपमें जिस प्रकार ये महाभारतकी रणभूमिके जुरेहुए योद्धागण प्रवेश कररहे हैं उसका दृष्टान्त देकर अर्जुन कहता है, कि ये प्रवेश करनेवाले वीर दो प्रकारके हैं। प्रथम वे जिनको भगवच्चरणोंमें स्नेह है और इस रणभूमिमें भगवद्दर्शन पातेहुए भगवत्मुखारविन्दके सन्मुख प्राण देना अपना अहोभाग्य समझरहे हैं। जैसे भीष्म द्रोण तथा अनेक अन्यान्य नरेश। और दूसरे वे जो भगवत्के स्वरूपको न पहचानकर द्वेषभावसे मरने मारने के लिये उपस्थित हैं।

इनमें प्रथम श्रेणीके भगवद्भक्त वीरगण किस प्रकार भगवत् में प्रवेश करते हुए देखे जाते हैं उनका उदाहरण देता हुआ अर्जुन कहता है, कि [यथा नदीनां बहवोम्बुवेगाः समुद्रमेवा-

भिमुखा द्रवन्ति] जैसे गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी इत्यादि पवित्र नदियोंके जलकी धाराएं समुद्रके सन्मुख होते ही बडी शीघ्रता से दौडती हुई समुद्रमें जामिलती हैं अर्थात् सब नदियोंका स्वभाव है, कि पर्वत फोडकर निकलती हैं और धीरे-धीरे पृथिवीमंडल पर प्रवाहित होती हुई सबकी सब किसी समुद्रके सन्मुख पहुंचती हैं जैसे गंगा, ब्रह्मपुत्र गोदावरी इत्यादि बंगालसागरके सम्मुख, सिंध, नर्म्मदा, तापती इत्यादि पश्चिम सागरके सम्मुख ओवी, जनाश्री, लीवा इत्यादि उत्तर सागरके सम्मुख पहुँचकर बडी शीघ्रतासे समुद्रमें जा मिलती हैं [तथा तवामी नरलोकवीराः विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति]. इसी प्रकार इस महाभारतकी रण-भूमिमें युद्धके तात्पर्यसे इस पृथ्विमंडलके बडे—बडे योद्धा पराक्रमी और ज्ञानी वीर तुम्हारे विश्वरूपके सम्मुख होते ही तुम्हारे जाज्वल्यमान ज्योतिर्मय मुखमें लय होते चले जाते हैं अर्थात् उनकी अपनी ज्योति उनके शरीरसे निकलकर तुम्हारे परम प्रकाशस्वरूपमें लय होती जाती है ।

अर्जुनके कहनेका अभिप्राय यह है, कि जैसे नदियां जलरूप ही हैं और समुद्र भी जलस्वरूप ही है अतएव जलको जलमें मिल जानेसे किसी प्रकारकी असुविधा नहीं होती इसी प्रकार ज्ञानियों और भक्त योद्धाओंको भगवत्स्वरूपमें मिलनेसे तनक भी कष्ट नहीं देख रहा हूँ । क्योंकि वे ज्ञान और भक्ति से अपने शरीराभिमान को प्रथमही त्यागकर भगवत्के सम्मुख होचुके हैं फिर उनको परमप्रकाशके साथ मिलनेमें कष्ट ही क्या होवे और विलम्बही क्या लगे ? ॥ २८ ॥

अब अर्जुन ! उन प्राणियोंके भगवत्स्वरूपमें लय होनेका दृष्टान्त देता है जो अज्ञानी हैं और अभक्त हैं ।

मू०— यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापिवक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २६ ॥

पदच्छेदः— यथा (येन प्रकारेण) समृद्धवेगाः (तीव्रो-वेगो येषांते) पतंगाः (शलभाः) नाशाय (मरणाय) प्रदीप्तम् (प्रकर्षेण जाज्वल्यमानम्) ज्वलनम् (अग्निम) विशन्ति, तथा, एव, समृद्धवेगाः, लोकाः (प्राणिनः । उभये च भूरथाः शूरा वा) अपि, नाशाय (मृत्यवे) तव, वक्त्राणि (मुखानि) विशन्ति (प्रवेशं कुर्वन्ति) ॥ २६ ॥

पदार्थः— (यथा) जैसे (समृद्धवेगाः) बडी शीघ्रतासे दौडनेवाले (पतंगाः) पतंगे (नाशाय) मरनेके लिये (प्रदीप्तम) बलतीहुई (ज्वलनम्) अग्निशिखामें (विशन्ति) पडजाते हैं (तथा एव) तिसी प्रकार निश्चय करके (समृद्धवेगाः) बडे वेगसे दौडते हुए (लोकाः) लोकलोकान्तर निवासी प्राणी तथा दोनों दलों के योद्धा (अपि) भी (नाशाय) मृत्युको प्राप्त होनेके लिये (तव) तुम्हारे (वक्त्राणि) मुखोंमें (विशन्ति) प्रवेश कररहे हैं [ऐसा मैं देखता हूं] ॥ २६ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें अर्जुन जो नदियोंका उदाहरण देचुका है वह उन प्राणियोंके विषयमें है जो भगवत्स्वरूपमें सुख-पूर्वक जामिलते हैं ।

अब इस श्लोकमें अर्जुन उन प्राणियोंके मिलनेका उदाहरण देता है जो अज्ञानी और अभक्त हैं और भगवत्से विमुख हैं इसी कारण जिनके लिये भगवत्का स्वरूप महाकालके समान दुःखदायी भान होता है अतः वे किस प्रकार भगवत्के भयानक स्वरूपमें मिलते हैं सो अर्जुन कहता है, कि [यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः] जैसे छोटे-छोटे पतंगे जो वर्षा-कालमें अधिक होजाते हैं और जहां-तहां बलतीहुई अग्निशिखाओंमें अर्थात दीपककी लौमें दौड पडते हैं और भस्म होते चलेजाते हैं [तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्ध-वेगाः] इसी प्रकार हे भगवन ! जो अज्ञानी और अभक्त हैं चाहे वे किसी लोकमें क्यों न निवास करते हों वे सबके सब तथा इस महा-भारतकी रणभूमिमें युद्धके तात्पर्यसे उपस्थित जो दुर्योधन इत्यादि हैं और जो तुम्हारे स्वरूपको महा भयंकर कालके समान तथा प्रलयाग्निके समान जाज्वल्यमान देखरहे हैं वे भी बडे वेगके साथ दौडतेहुए तुम्हारे मुखमें जाकर ऐसे भस्म हुए चलेजाते हैं जैसे दीपकमें पतंगे जलमरते हैं ।

अर्जुनके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है कि जैसे दीपकमें भस्महोते समय पतंगे परम दुःख पाते हैं । उनमें कुछ तो एकबारगी भस्म होजाते

हैं और कुछ अधजलेसे रहकर अधकच्चे रहजाते हैं जिन्हें प्राण निकलते-निकलते तक अत्यन्त क्लेश होता है उस समय कोई उपाय अपने प्राण बचानेका नहीं देखते और व्याकुल होकर तडफडाते और फडफडाते जलते हुए चलेजाते हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न लोकोंके निवास करनेवाले जो भगवद्विमुख प्राणी हैं तथा इस महाभारतके कटकमें जो भगवद्विमुख वीर हैं, जिनको आयुभरमें कभी भगवत् का नाम नहीं सुहाता, जो भगवत्का नाम सुनते ही नाक सिकोडते हैं, निशिवासर मद्य वेश्या इत्यादि अन्यान्य विषयोंमें तथा निर्दोष जीवोंकी हिंसा करनेमें रत रहते हैं और जिनके लिये भगवत् काल-स्वरूप ही हैं उन्हींको भगवत्के जाज्वल्यमान मुखारविंदमें अर्जुन पतंगोंके समान जलकर भस्मीभूत हुए देखरहा है।

शंका— जहां-तहां अनेक ग्रन्थोंमें ऐसा लिखा है, कि जो भगवत्के सन्मुख होता है उसके सर्व पाप नष्ट होजाते हैं और वह महाप्रभु उसको अपना स्वरूप बनाकर अपनालेता है फिर यहां अर्जुन ऐसा क्यों कहता है, कि बहुतेरे प्राणियोंको मैं पतंगोंके समान तुम्हारे सम्मुख दौडकर तुम्हारे जाज्वल्यमान मुखमें पडकर भस्म होते हुए देखरहा हूं जिससे वे अत्यन्त क्लेश पारहे हैं। फिर जो भगवत्के सम्मुख हुआ उसे क्लेश कैसा ?

समाधान— इसमें तनक भी सन्देह नहीं है, कि जो प्राणी भगवत्के सम्मुख होता है वह सर्व प्रकारके क्लेशोंसे छूटजाता है। तहां सम्मुख होनेका अर्थ यह नहीं है, कि इस पांचभौतिक देहको भगवतके

मुँहके सामने करना अरु शास्त्रोंका प्रयोजन सम्मुख होनेसे यह है, कि जो प्राणी अपने मनको संसृतिव्यवहारोंसे मोडकर भगवत्के स्मरण पूजन भजन इत्यादिमें लगाता है उसीको यथार्थरूपसे सम्मुख होना कहते हैं । सो इस रणभूमिमें अथवा इससे इतर कहीं भी किसी लोकलोकान्तरमें जो भगवत्के सम्मुख मनसे हैं वे ही दुःखसागरसे पार हैं । जैसे किसी महाराजाधिराजके सम्मुख उसकी प्रिया महारानी अथवा उसका कोई परम स्नेही सामने खडा है और उसका शत्रु तथा एक डाकू लुटेरा भी न्यायके निमित्त सम्मुख खडा है तो अब विचारने योग्य है, कि शरीरसे तो महारानी, मित्र, शत्रु तथा डाकू सब महाराजके सम्मुख हैं पर मनसे इनकी गति भिन्न है अतएव सम्मुख होनेका जो यथार्थ सुख है वह केवल महारानी और मित्रको ही प्राप्त है, शत्रुको और डाकूको सो सुख प्राप्त हो नहीं सकता । क्योंकि ये दोनों सम्मुख होनेपर भी सम्मुख नहीं समझे जावेंगे और दुःख ही भोगेंगे इसी प्रकार जो भगवत्के सन्मुख मन, वचन और कर्म तीनोंसे है वही यथार्थमें भगवत्के सन्मुख है ।

इस रणभूमिमें तथा अन्य किसी भी स्थानमें जो प्राणी यथार्थ सम्मुख है वह तो पूर्वश्लोकमें कथन कियेहुए नदी और समुद्रकी उपमाके अनुसार है और जो यथार्थ सम्मुख नहीं है वह दीपक और पतंगकी उपमाके अनुसार है । शंका मत करो !

शंका—यदि मन वचन कर्मसे भगवत्के सम्मुख होना सम्मुख समझा जाता हो तो रावण, कुंभकरण इत्यादिका अन्तःकरणसे सम्मुख

होकर मुक्त होना सिद्ध नहीं होता । क्योंकि वे मन, वचन और कर्मसे सम्मुख नहीं हुए वरु शत्रु होकर सम्मुख हुए थे । फिर भी भगवतने उनको मुक्त करदिया इसलिये किसी भी प्रकारसे भगवतके सम्मुख होना सम्मुख ही होना सिद्ध होता है शरीरसे हो वा मन वचन कर्मसे हो ।

समाधान—नहीं ऐसा मत कहो! रावण, कुंभकरण इत्यादिके विषय जो तुमने कहा सो ये भी अन्तःकरणसे भगवतके सम्मुख ही थे पर केवल अपने उद्धारनिमित्त इन्होंने अविधि-भक्ति स्वीकार की थी क्योंकि भक्ति दो प्रकारकी है विधि और अविधि—

विधि-भक्ति वह है जो अन्तर और बाहर दोनों ओरसे सात्विक रीति द्वारा सम्पादन कीजावे और अविधि-भक्ति वह है जो अन्तःकरणसे तो भगवत्में प्रेम रखे पर बाहरसे तामसी स्वभाव होनेके कारण सात्विकरीतिद्वारा अपना निर्वाह न जानकर तामसीरीतिसे शत्रुता अथवा अन्य किसी विरुद्धभाव द्वारा भगवत्के सम्मुख आजावे । देखो! रावणने अपने मुखसे कहा है—

होइ भजन नहिं तामस देहा, मन क्रम वचन मंत्र दृढ येहा ।
खरदूषण मोसम बलवन्ता, तिन्हैंको मारै बिनु भगवन्ता ॥
सुररंजन भंजन महि भारा, जो जगदीश लीन्ह अवतारा ।
तौ मैं जाय वैर हठि करिहौं, प्रभु शर प्राण तजे भव तरिहौं ॥
(तुलसी)

फिर कुम्भकरण रावणके प्रति कहता है—

" अहह बन्धु तैं कीन्ह खुटाई, प्रथमन मोहि जगायहु आई ।

कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहिं देवक। शिव विरंचि सुर जाके सेवक
नारद मुनि मोहिं ज्ञान जो कहेऊ। कहतेउँ तोहि समय नहिं रहेऊ
अब भरि अंक भेंटु मोहिं भाई। लोचन सफल करौं मैं जाई
श्यामगात सरसीरुहलोचन। देखौं जाय तापत्रयमोचन ॥ ”

(तुलसी)

इन वचनोंसे सिद्ध होता है, कि रावण और कुंभकरणकी अविधि भक्ति थी इसलिये वे अन्तःकरणसे तो भगवत्के सम्मुख थे केवल शरीरसे ही सम्मुख नहीं हुए थे।

इसी प्रकार इस महाभारतमें भी भीष्म, द्रोण, शल्य इत्यादि अनेक योद्धागण अन्तःकरणसे भगवान्के सम्मुख थे अर्जुनने इनका उदाहरण नदी तथा समुद्रसे और विमुखोंका उदाहरण ज्वाला और पतंगोंसे दिया है। शंका मत करो!

शंका— यदि किसी प्राणीको यह भी शंका हो, कि पतंग तो सर्वप्रकार मन, वचन और कर्मसे आसक्त है इसीलिये जलमरता है फिर पतंग और दीपककी उपमा भगवद्विमुख प्राणियोंके लिये अर्जुनने क्यों दी?

समाधान— पतंग और दीपककी उपमा जो प्रेमके विषय दी जाती है वह सिद्धान्त नहीं है वह तो कवियोंका विचारमात्र है। यथार्थमें तो वे पतंग ऐसा समझते हैं, कि कोई खानेकी वस्तु है इसलिये भोजनके लोभसे उस दीपकपर अथवा किसी जलतीहुई

शिखापर दौडपडते हैं प्रेमसे नहीं दौडते इन पतंगोंमें प्रेम दिखलाना यह कवियोंका एक अनुमानमात्र काव्योंकी शोभा देनेके निमित्त है जहां-जहां ग्रन्थोंमें पतंग और दीपकका दृष्टान्त आया है सो केवल प्रेमके उदाहरणमें नहीं वरु विरुद्ध उदाहरण नाशादि तथा मरणादिके उदाहरणमें शत्रुभावसे आया है । जैसे " **अलक्षितोऽग्नौ पतितः पतंगमो यथा नृसिंहौजसि सोऽसुरस्तदा** " (श्रीमद्भाग० स्कन्ध ७ अ० ८ श्लोक २४) अर्थात् हिरण्यकश्यप राक्षस दौडता हुआ नृसिंह भगवान्के तेजमें इस प्रकार अंधेके समान जा गिरा जैसे पतंग अंधा होकर दीपकके तेजमें जागिरता है ।

यहां व्यासदेवने पतंग और दीपककी शत्रुताको लेकर दृष्टान्त दिया है मित्रता वा प्रेममें नहीं दिया । इसी कारण विमुखोंके लिये अर्जुनका पतंग और अग्निशिखासे उदाहरण देना अनुचित नहीं है ।

यदि थोडी देरकेलिये यह मान भी लियाजावे, कि पतंगे आसक्त ही होकर दीपकपर गिरते हैं और भस्म होजाते हैं तो भी इतना तो अवश्य कहना पडेगा, कि दीपक जड होनेके कारण उनके प्रेमको न जानकर उनकी रक्षा नहीं करसकता और न अपना रूप बना सकता है पर भगवत् तो चैतन्य है कोई भी प्राणी प्रेमासक्त होकर उसपर गिरेगा तो वह भगवत् उसकी रक्षा अवश्य करेगा और अपना रूप बनालेगा । शंका मत करो ॥ २९ ॥

अब इसी दृष्टान्तको अर्जुन और भी अधिक स्पष्टकर कहता है—

मू०— लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात्,
लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य्य जगत् समग्रं,
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

पदच्छेदः— [हे] विष्णो! (व्यापनशील!) ज्वलद्भिः (दीप्यमानैः) वदनैः (मुखैः) समग्रान् (समस्तान्। निरवशेषान) लोकान्, समन्तात् (समन्ततः) ग्रसमानः (संहरमाणः) [सन] लेलिह्यसे (भूयोभूयोऽतिशयेन वा आस्वादयसि) [तथा] तव, उग्राः (अत्युल्बणाः। तीव्राः) भासः (मुखदीप्तयः) तेजोभिः (ज्वालाभिः) समग्रम् (समस्तम्) जगत् (विश्वम्) आपूर्य्य (व्याप्य) प्रतपन्ति (प्रकर्षेण सन्तापमाप्नुवन्ति) ॥ ३० ॥

पदार्थः— (विष्णो!) हे सर्वत्र व्यापनेवाले (ज्वलद्भिः) तुम अपने प्रकाशमान (वदनैः) मुखोंसे (समग्रान्) सर्व (लोकान्) लोकोंको (समन्तात्) सब ओरसे (ग्रसमानः) भक्षण करतेहुए (लेलिह्यसे) अपनी जिह्वा द्वारा चाटरहे हो तथा (तव) तुमअपने (उग्राः) अत्यन्त प्रचण्ड (भासः) मुखके प्रकाश द्वारा (तेजोभिः) अपनी ज्वालासे (समग्रं जगत) सारे ब्रह्माण्डमें (आपूर्य्य) व्यापकर (प्रतपन्ति) उसे तपयमान कररहे हो ॥ ३० ॥

भावार्थः— पहले जो अर्जुन पतंग और अग्निशिखाका दृष्टान्त देचुका है उसीको और भी अधिक स्पष्टकर कहता है, कि

[लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वद-नैर्ज्वलद्भिः] हे भगवन् ! मैं तो प्रत्यक्ष देख रहा हूं, कि तुम अशेष लोकोंको दशों दिशाओंसे अपने जाज्वल्यमान मुखद्वारा भक्षण करतेहुए अपनी लम्बी लम्बी जिह्वाओंको फैलाकर चाट रहे हो। अर्थात् जैसे कोई प्राणी चटनी बनाकर खाते समय जिह्वाको चारों ओरसे फिरा-फिराकर चाटता है ऐसे तुम भक्षण करतेहुए संसारी जीवोंको तथा इस युद्धमें उपस्थित वीरोंको चटनी बनाकर चाट-रहे हो। जैसे किसी ग्राममें जब प्रचण्ड अग्निका कोप होता है और बस्तीके घर भस्म होने लगजाते हैं उस समय अग्निकी ज्वालाएं बडे वेगसे बढना आरंभ करती हैं और एक घर वा घास फूसोंको अपनी तीव्र लपटसे जलातीहुई आगे बढती जाती हैं तब उन लहकती और भभकतीहुई ज्वालाओंको देख बडे-बडे वीरोंका साहस छूटजाता है ऐसेही तुम्हारी धू धू धधकतीहुई जिह्वाओंकी लपट चारों ओरसे महाभार-तके ग्राममें उपस्थित वीररूप घरोंको चटाचट चाटतीहुई अर्थात् भस्म कर-तीहुई चली जारही है तहां ऐसा अनुमान होता है, कि प्रलयकालकी अग्निने अपनी काली, कराली इत्यादि सप्त जिह्वाओंकी सप्त सहस्र जिह्वाएं बनाली हैं फिर किसीका भी साहस नहीं पडता जो इन प्रलयंकरी ज्वालाओंसे किसी ओर प्राण बचाकर भागसके। जैसे लंकामें आग लगनेसे हाहाकार मचगया, बडे-बडे वीरोंको प्राण बचानेका साहस नहीं पडा और कितने अग्निकी प्रचण्ड ज्वालाओंमें जलते और भस्म होते चलेगये इसी प्रकार चारों ओरसे प्राणियोंकी दशा होरही है वे किधर भागें ? जिधर निकलनेको साहस करते हैं उधर ही तुम्हारे

परम प्रकाशमान मुखमें बडी-बड़ी लम्बी जिह्वायें घूमतीहुई देखपडती हैं आज तो मैं ऐसा देख रहा हूं, कि करोडों ब्रह्माण्ड तुम्हारी जिह्वाकी नोक पर लटकेहुए भस्म होरहे हैं । हे भगवन् ! न जाने तुम कितने दिनके भूखे हो ? जैसे वरषोंके भूखे प्राणीके चित्तमें ऐसी अभिलाषा होजाती है, कि आकाशके सम्पूर्ण बादलोंकी रोटी बनाकर तथा सातों सागरोंकी दाल और सब तारागणोंको मक्केकी चबेनी (लावा) बनाकर एक ही बार मुंहमें डाललूं ऐसी ही मैं इस समय तुम्हारी दशा देखरहा हूं । फिर क्या देख रहा हूं, कि [तेजोभिरापूर्य्य जगत् समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो !] हे विष्णो भगवन् ! तुम्हारा नाम इसी कारण विष्णु है, कि तुम सब ओर सब ठौर व्यापनेवाले हो सो तुम्हारा परमप्रकाशमय तेज बड़ी प्रचण्डतासे सम्पूर्ण जगत्में व्यापकर तृणसे ब्रह्मा पर्य्यन्तको तपायमान कररहा है अर्थात् तुम्हारे इस उग्र तेजकी ज्वालाओंको कोई भी संभाल नहीं सकता । अतएव सबके सब सन्तप्त हो रहे हैं । जो कोई प्राणी चाहता है, कि मैं अपने प्राण बचाकर किसी ओर भागूं तो भाग नहीं सकता । क्योंकि जिधर ही भागनेको मुँहं करता है उसी ओर तुम्हारे भयंकर तेजोमय भभकतेहुए मुखमण्डलको व्यापक देखता है । कहां जावे ? किधर जावे ? हे भगवन् ! सब त्राहि त्राहि पुकार रहे हैं और मैं ऐसा भी देखता हूँ, कि महाभारतके बहुतेरे वीर तो तुम्हारे सम्मुख इस प्रकार नाश होते जाते हैं जैसे किसी तपेहुए लोहेके कडाहपर पानीकी बूँदें छनाछन जलती चलीजाती हैं ऐसा देखकर मैं अत्यन्त व्याकुल होरहा हूं ॥ ३० ॥

अब अर्जुन व्याकुल होकर भगवानके विश्वरूपको मस्तक झुकाताहुआ कहता है—

मू०— आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो,
नमोस्तु ते देववर ! प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं,
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

पदच्छेदः—भवान, उग्ररूपः (भयंकरं रूपं यस्य सः) कः [इति] मे, आख्याहि (कथय) [हे] देववर! (देवानां श्रेष्ठ!) ते (तुभ्यम) नमः (नमस्कारः) अस्तु, प्रसीद (प्रसन्नो भव) हि (यस्मात्) तव, प्रवृत्तिम् (अभिप्रायम । चेष्टाम) नहि, प्रजानामि [तस्मात] भवन्तम, आद्यम् (आदिरूपम) विज्ञातुम (विशेषेण ज्ञातुम्) इच्छामि ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(भवान) तुम (उग्ररूपः) परम भयंकर रूपवाले (कः) कौन हो ? सो तुम (मे) मुझसे (आख्याहि) कहो (देववर!) हे देवोंके प्रधान ! (ते) तुम्हारे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे (प्रसीद) तुम मुझपर प्रसन्न होवो (हि) जिस कारण मैं (तव) तुम्हारी (प्रवृत्तिम्) चेष्टा अर्थात् तुम क्या करना चाहते हो (नहि, प्रजानामि) नहीं जानता हूं इस कारण (भवन्तम) तुम्हारे (आद्यम) आदिस्वरूपको (विज्ञातुम) भली भांति जाननेकी (इच्छामि) इच्छा करता हूं ॥ ३१ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन भगवानके भयंकर कालस्वरूपको देखकर परम व्यथासे घबडाता हुआ बोलता है, कि [**आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोस्तु ते देववर ! प्रसीद**] हे भगवन ! तुम मुझे यह तो बतादो, कि तुम कौन हो ? जिस भयंकर स्वरूपके देखने से मेरी तो कौन पूछे ? बडे-बडे ब्रह्मादि देवोंकी आंखे मिची जाती हैं, शरीर थर्रा रहे हैं, मन ठिकाने नहीं है और बुद्धि व्याकुल होरही है । हे देवताओंमें श्रेष्ठ महेश्वर ! सब देवोंके गुरु मैं तुम्हें बार—बार मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं । मेरा तुमको बार-बार नमस्कार है । तुम मुझपर प्रसन्न होवो ! इस भयंकर रूपकी शान्ति करो । इतना कहकर अर्जुन उसी प्रकार इस रुद्ररूपको नमस्कार करनेलगा जैसे रुद्राध्यायमें भगवतके रुद्ररूपको वेदने नमस्कार किया है । जैसे अर्जुनने भगवानके रुद्रस्वरूपको यहां रथपर देखा है, कि " दिव्यानेकोद्यतायुधम् " (श्लो० १०) अनेक दिव्य शस्त्रोंसे युक्त है तथा शत्रुओंका नाश करनेमें उद्यत है इसी प्रकार वेदने भी इस रौद्रस्वरूपको बार-बार नमस्कार किया है, कि " **ॐ नमो विसृजद्भ्यो विद्ध्यद्भ्यश्च वो नमो नमः** " (शु० यजु० अ० १६ मं २३) अर्थात शत्रुओंपर बाण चलानेवाले तथा शत्रुओंको ताडना करनेवाले तुम्हारे लिये मेरा नमस्कार है ! नमस्कार है !! फिर उसी वेदने उसी अध्यायमें यों नमस्कार किया है, कि " **ॐ आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो नम उगणाभ्यस्तृंहतीभ्यश्च वो नमो नमः** " (शु० यजु० अ० १६ मं० २४) अर्थात् '**आव्याधिनी**' जो चारों ओरसे वेधन करनेवाली और '**विविध्यन्ती**' जो सब ओर विशेषकर छेदन करनेवाली

तुम्हारी परम भयंकरी शक्ति है उसे नमस्कार है ! नमस्कार है !! फिर जो " उग्रकर्म्मा " प्रलयाग्नी आदि तुम्हारी आदि शक्ति हैं तथा " मृत्युहर्त्ता " जो एक बारगी प्राणको हरण करनेवाली तुम्हारी परम विकराला मृत्युरूपा शक्ति है उसके लिये बार-बार नमस्कार है ।

फिर जैसे अर्जुनने बार-बार भगवान्‌के भयंकर स्वरूपको तात्पर्य्यसे नमस्कार किया, कि भगवान मुझपर प्रसन्न होवेंगे । इसी प्रकार वेदने भी इस भयंकर रूपसे बचनेके लिये भगवतको बार-बार नमस्कार किया है । प्रमाण श्रु०— " ॐ सहस्राणि सहस्रशो बाहोस्तव हेतयः । तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि "

(शु० यजु० अ० १६ मं० ५३)

अर्थ—हे ईशान ! हे भगवन ! बहुत प्रकार संहार करनेवाले आपकी सहस्रों भुजाओंके जो 'हेतयः' शस्त्र हैं सो इन शस्त्रोंके मुखोंको ' पराचीना " हमसे दूर करो अर्थात् प्रसन्न होकर मेरे प्राण बचाओ ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जिस भगवान्‌के रौद्रस्वरूपसे भय मानकर थर्राता हुआ वेद भी भगवान्‌के प्रसन्न करनेके लिये लाखों बार नमस्कार कररहा है उसी रौद्रस्वरूपको आज रथपर अर्जुन देखकर अपने प्राणके भयसे बार—बार नमस्कार करता हुआ बोलता है, कि हे भगवन्‌ ! हे देववर ! ' प्रसीद ' प्रसन्न होवो ! प्रसन्न होवो !!

अब अर्जुन कहता है, कि [विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्] मैं तुम्हारे आदिस्वरूपको जाननेकी इच्छा करता हूं क्योंकि मैं तुम्हारे अभिप्रायको नहीं जानता

तात्पर्य्य यह है, कि हे भगवन् ! तुम सबोंसे पहले सबके आदिकारण कहे जाते हो सो तुम्हारा स्वरूप आदिमें कैसा था अर्थात् ऐसा ही था वा किसी अन्य प्रकारका था ? सो तुम कृपा करके मुझको जनादो ! मुझे तुम्हारे आदिस्वरूपके जाननेकी उत्कट आकांक्षा है।

किसी-किसी टीकाकारने यहां " भवन्तमाद्यम् " का ऐसाभी भावार्थ किया है, कि अर्जुनका तात्पर्य यह है, कि यह भयंकर स्वरूप बडा ही भयदायक है मैं देखते-देखते व्याकुल होगया हूं इसलिये अब मैं तुम्हारे आदिस्वरूपको अर्थात् कृष्णरूप को जो सारथी बनकर मेरे रथ पर शोभायमान था देखना चाहता हूं। जो हो इस अर्थका भी यहां समावेश होसकता है।

अब अर्जुन कहता है, कि मैं तुम्हारे आदिस्वरूपको जानना चाहता हूं। अर्थात् पहलेपहल तुम्हारा क्या तात्पर्य था ? सो जानना चाहता हूं। क्योंकि परम अज्ञानी होनेके कारण " नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् " मैं तुम्हारी चेष्टाको अर्थात तुम्हारे अभिप्रायको नहीं जानता हूं, कि तुम ऐसे भयंकर रूपसे क्या करना चाहते हो ? क्या प्रलय करनेकी इच्छा हुई है ? क्या संसारको चूर-चूर कर वायुमें उडादेनेकी इच्छा है ? अथवा जैसे कोई अपने घर आंगनको झाडुओंसे बुहारी देकर स्वच्छ करदेता है ऐसेही क्या आज इन सूर्य्य चन्द्र तथा तारागणोंको बुहार कर आकाशको स्वच्छ करदेनेकी इच्छा है ? अथवा जैसे बच्चे दूधके कच्चे प्यालेको पीकर फोडदेते हैं ऐसे क्या आज तुम सातों समुद्रोंको एक घोंटमें पीकर ब्रह्माण्डको कहीं पटककर फोडदिया चाहते हो ? ऐसे महाकालका भी कालस्वरूप बनाकर न

जाने तुम क्या करना चाहते हो? सो हे नाथ! कृपाकर मुझपर प्रसन्न होजाओ! जैसे अपना [illegible] स्वरूप दिखलाया है ऐसे अपना अभिप्राय भी मुझे बताओ, कि तुम कौन हो और क्या चाहते हो? ॥ ३१ ॥

अर्जुनके मुखसे इतना वचन सुनकर भगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच ।

मू०— कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो,
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

पदच्छेदः— लोकक्षयकृत् (लोकानां नाशं करोतीति) प्रवृद्धः (वृद्धिंगतः) इह (अस्मिन् समये) लोकान् (उभयकटकस्थान् वीरान्) समाहर्तुम् (नाशयितुम्) प्रवृत्तः (उद्यतः) कालः (सर्वस्य संहारकर्त्ता अन्तकः) अस्मि, प्रत्यनीकेषु (प्रतिपक्षसैन्येषु । उभयसैन्येषु सैन्यसमुदायेषु वा) ये, योधाः (योद्धारः) अवस्थिताः (उपस्थिताः,) [ते] सर्वे, त्वां ऋते (विना) न, भविष्यन्ति ॥ ३२ ॥

पदार्थः— (लोकक्षयकृत) प्रलयकालमें लोकोंके नाश करनेके निमित्त (प्रवृद्धः) अपनी बहुत बढीहुई अभिलाषाके साथ उद्यत तथा (इह) इस समय (लोकान्) युद्धमें उपस्थित सब लोकोंको (समाहर्तुम) संहार करनेमें (प्रवृत्तः) समर्थ (कालः) महा कालस्वरूप (अस्मि) मैं हूं (प्रत्यनीकेषु) तेरे अथवा शत्रुओंके

दलमें (ये योधाः) जितने युद्ध करनेवाले वीर (अवस्थिताः) आकर एकत्र हुए हैं इनमेंसे (सर्वे) सबके सब (त्वां ऋतेऽपि) तेरे बिना मारनेपर भी (न भविष्यन्ति) जीवित नहीं रहेंगे क्योंकि मैं सबको पहले ही संहार करचुका हूं ॥ ३२ ॥

भावार्थः— अर्जुनके व्याकुल होकर पूछनेपर भगवान् बोले- हे अर्जुन! देख मैं तुझे निश्चय कर कहता हूं, कि [कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः] मैं साक्षात् काल ही हूं और इस लोकके क्षय करनेकी मेरी प्रबल इच्छा बढरही है तथा अन्य लोकोंको मैं इसी समय भक्षण करनेमें प्रवृत्त हूं। अर्थात् मेरी पूर्ण इच्छा यही है, कि सबोंको नाश कर-डालूं और प्रलय करडालूं। इसी कारण दशों दिशाओंमें जिह्वाको फैलाकर सबोंको चाटजाने चाहता हूं। आज इस समय मेरी इस भयंकर मूर्त्तिसे कोई भी नहीं बचेगा अब सब मेरे मुंहमें ऐसे प्रवेश करजावेंगे जैसे पर्वतकी कन्दराओंमें टिड्डियां प्रवेश करजाती हों अथवा जैसे कर्पूरकी डली देखते-देखते वायुमें लुप्त होजाती है इसी प्रकार इन लोकोंकी दशा तू अब अपने नेत्रोंसे प्रत्यक्ष देखेगा।

हे अर्जुन! तूने जो अत्यन्त शोक कर मुझसे बारम्बार यों कहा, कि "एतान्न हन्तुमिच्छामि" इनको मैं मारना नहीं चाहता "स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव!" हे माधव! अपने बन्धुवर्गोंको मारकर हमलोग कैसे सुखी होसकते हैं? (अ०१ श्लो०३४, ३६)।

ऐसी २ बातें कहकर तूने जो अपनेको इनका मारनेवाला निश्चय करलिया है सो हे अर्जुन! सुन [ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति

सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः] तेरेको छोडकर भी अर्थात् यदि तू इनको न मारे त्यागकर चला भी जावे तो भी जितने वीर तेरे शत्रुदलमें उपस्थित हैं ये सबके सब मारेजावेंगे इनमेंसे कोई भी नहीं बचेगा । क्योंकि ये सबके सब पहलेही से मरे पडे हैं इनको मैं पूर्व ही मारचुका हूं । क्या तू इनके मस्तकोंको अभी मेरे मुखमें लटकाहुआ नहीं देखता है ? यह लीला देखकर भी तू नहीं समझता है, कि कालरूप होकर मैं पहले ही इनको मारचुका हूं इसलिये तू इनके मारनेका अहंकार मत कर ॥ ३२ ॥

भगवान् यह विचारकर, कि अर्जुन कहीं ऐसी शंका न करबैठे, कि जब मेरे बिना मारेही ये सब मरे हुए हैं तो फिर मुझे इस घोर कर्ममें क्यों प्रवृत्त करते हो ? इसके निवारणार्थ भगवान् कहते हैं—

मू०—तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व,

जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव,

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

पदच्छेदः—तस्मात् (पूर्वोक्तकारणात्) त्वम्, उत्तिष्ठ (उद्यतो भव) यशः (कीर्त्तिम) लभस्व (प्राप्नुहि) शत्रून् (दुर्योधनादीन् रिपून) जित्वा, समृद्धम् (पूर्णविभवसंयुतं निष्कण्टकम्) राज्यम्, भुंक्ष्व (भोग्यत्वेन सम्पादय) एते, पूर्व्वम् (प्रागेव) एव, मया, (मत्कालरूपेण) एव (निश्चयेन) निहताः (मृतप्रायाः) [हे] सव्य साचिन् ! (वामपाणिना वाणप्रक्षेपणसमर्थ । संधातुं शील वा) [त्वम्] निमित्तमात्रम् (कारणमात्रम्) भव ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(तस्मात्) इसी कारणसे (त्वम्) तू अर्जुन (उत्तिष्ठ) युद्धके लिये उद्यत हो जा! और (यशः) भीष्मादि वीरोंको रणमें जीतनेका यश (लभस्व) प्राप्तकर और (शत्रून्) दुर्योधनादि शत्रुओंको (जित्वा) जीतकर (समृद्धम्) पूर्ण विभवयुक्त अकण्टक (राज्यम्)राज्यको (भुंक्ष्व) भोगकर क्योंकि (एते) ये भीष्म, द्रोण, दुर्योधनादि (पूर्वमेव) निश्चय करके पहलेही (मया एव) निस्सन्देह मेरे द्वारा (निहताः) मारे जाचुके हैं इसलिये (सव्यसाचिन्!) हे बायें हाथसे भी तीर और बाणोंके चलानेमें कुशल अर्जुन! तू तो इनके नाशका (निमित्तमात्रम्) कारणमात्र (भव) होजा अर्थात् मैं इनको पहले ही मारचुका हूं तुझको तो एक निमित्तमात्र बनाकर पूर्ण यश देनेकी मेरी इच्छा है ॥ ३३ ॥

भावार्थः— भगवान् भक्तवत्सल हैं, प्रणतपाल हैं अर्थात् जैसे गैया अत्यन्त स्नेहसे अपने बच्चेका पालन करती है एक क्षणभी उसे नेत्रोंसे विलग होना नहीं संभाल सकती। ऐसे भगवान् अपने भक्तोंको प्यार करनेवाले हैं जो उनके चरणोंकी सेवामें निशिवासर तत्पर रहता है उसकी सदा ही रक्षा करते हैं। चाहे किसी समय प्रलय करनेके निमित्त भी भगवान् क्रोधसे भरे हुए अपने काल-स्वरूपको धारणकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके नाश करनेको क्यों नहीं तत्पर होजावें पर जैसे हम प्राकृतमनुष्योंको क्रोधित होनेके समय अन्य कृपा, दया, क्षमा इत्यादि गुणोंका लोप होजाता है तो क्रोधान्ध होकर अपने स्वभावको भूल जाते हैं कुछ भी स्मरण नहीं रहता भला बुरा कुछ नहीं सूझता। ऐसे भगवान् नहीं हैं वे चाहे कितना ही क्रोधसे भरे क्यों

न हों पर उनको अपनी भक्तवत्सलता कभी भी विस्मरण नहीं होती। क्योंकि भगवतमें यह गुण स्वाभाविक है, प्रत्यक्ष देखनेमें आरहा है, कि एक ओर तो अपना परम भयंकर महाकालस्वरूप उसे दिखारहे हैं और दूसरी ओर उसी समय अर्जुनपरे जो पहली कृपादृष्टि थी अर्थात् जैसे पहले रथपर दयायुक्त हो उसे अपना सखा, प्रिय, शिष्य इत्यादि शब्दोंसे पुकारा था और परम स्नेह दिखलाया था वे सबकी सब बातें भगवान्को इस दशामें भी स्मरण हैं इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि [तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्] इसलिये हे अर्जुन ! तू युद्धके लिये उठखड़ा हो और शत्रुओंको जीतकर यश लाभ कर तथा स्वच्छन्दता पूर्वक राज्य कर ! तू विचार कर देख, कि मैंने तुझको पहले ही इन उपस्थित वीरोंको अपने मुंहमें दिखलाया है ये तो मरे हुए हैं। मैं तुझको संसारमें केवल वीरताका यश दिलानेके लिये यत्न कररहा हूं अर्थात् भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथ इत्यादि बडे-बडे वीरोंको जब तू इस रणभूमिमें जीतेगा तो तीनों लोकोंमें तेरा यश किस प्रकार फैलेगा सो तू भली भांति अनुमान करसकता है इसलिये तू युद्धके लिये उठ और यश प्राप्त कर ।

यदि तुझको शंका हो, कि इनके मारनेमें बहुत विलम्ब होगा और नाना प्रकारके क्लेश झेलने पडेंगे सो ऐसा मत समझ ! क्योंकि [मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्] ये सबके सब योद्धा पहले ही मुझसे मारे जाचुके हैं। मैं इनका पहले ही संहार करचुका हूं । इसलिये हे बायें हाथसे तीर धनुष

चलानेमें कुशल अर्जुन ! तू निमित्तमात्र ही इनके नाशका कारण होजा । इनको मारडालनेमें तुझको तनक भी कष्ट नहीं होगा । क्योंकि इनके बलको मैंने पहले ही खैंचकर इन्हें निर्बल करडाला है फिर अब ये तेरे ऐसे वीरका क्या सामना करसकते हैं ? ।

भगवान्के कहनेका अभिप्राय यह है, कि जैसे काष्ठ और कपडे की बनी हुई पुतलियां नाचतीहुई, युद्ध करतीहुई तथा उछलती कूदती हुई देख पडती हैं पर इन सब चेष्टाओंका कारण पुतली नचानेवाला हो बाजीगरही होता है। जिसकी अंगुलियोंमें इन पुतलियोंकी डोरी बंधी रहती है वह नचानेवाला जैसे-जैसे उलटी सीधी अंगुलियोंको करता है तैसे-तैसे वे नाचती हैं पर यदि बाजीगर अपनी अंगुलियोंसे उस डोरीको तोडकर विलग करदेवे तो सब पुतलियां निश्चेष्ट होकर गिर पडेंगी फिर उनके उलट-पुलट करदेनेके लिये एक छोटे बालकमात्रकी आवश्यकता है । इसी प्रकार ये जितने वीर रणभूमिमें उपस्थित हैं सबका बल-रूप डोर मैंने अपनी अँगुलियोंसे तोडडाला है इसलिये ये सब निर्जीव पुतलियोंके समान मरे पडे हैं तू इनको उलटपुलटकर रण-भूमिकी धूरमें मिलादे। जैसे सूत्रकार, चित्रकार, लोहकार, स्वर्णकार इत्यादिके लिये आरा, बसूला, रुखानी, नेहाई, हथौडी, घन तथा बांसकी नली, घडिया तथा लेखनी, रंग कागद वा वस्त्र इत्यादि विशेष-विशेष कार्योंके सम्पादन करनेके लिये निमित्तमात्र हैं इसी प्रकार इस महा-भारत युद्धको सम्पादन करनेके लिये तू निमित्तमात्र है यथार्थ सम्पादन करनेवाला तो मैं हूं ॥ ३३ ॥

इस रणभूमिमें जो प्रसिद्ध वीर हैं वे भी तुझसे मारे जावेंगे। सो कौन-कौन हैं और क्यों मारे जावेंगे? सुन! तथा तेरे मनमें जो इनके मारनेमें शंका होरही है सो छोडदे और दृढ होजा।

मू०— द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च,
कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा,
युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

पदच्छेदः— द्रोणम् (कुरुपांडवानां आचार्यम्। भरद्वाजस्य पुत्रम) च, भीष्मम् (कुरुवंशशिरोमणिशान्तनुपुत्रम्) च, जयद्रथम् (सिन्धुराजम्) च, कर्णम् (सूतपुत्रम्) च, तथा, मया (रौद्ररूपेण) हतान् (युद्धसामर्थ्याद् वियोजितान्। मृतप्रायःकृतान) अन्यान्, योधवीरान (युद्धसमर्थान शूरान्) अपि, त्वम्, जहि (घातय। मारय) मा, व्यथिष्ठाः (व्यथां चिन्ताम मा शंकिष्ठाः) रणे (संग्रामे) सपत्नान् (शत्रून्) जेतासि (जेष्यसि) [अतः] युद्ध्यस्व (युद्धाय सन्नद्धो भव) ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(द्रोणञ्च) द्रोणाचार्यको भी (भीष्मञ्च) भीष्मपितामहको भी (जयद्रथञ्च) जयद्रथको भी (कर्णञ्च) कर्णको भी (तथा) और (मया हतान्) मुझसे मरेहुए (अन्यान्, योधवीरान्) दूसरे २ वीरोंको (अपि) भी (त्वम्) तू अर्जुन (जहि) हनन करडाल तथा (मा व्यथिष्ठाः) इनके मारनेमें वृथा व्यथाको मत प्राप्त हो अर्थात् चिंता मत कर क्योंकि तू (रणे) रणमें (सपत्नान्) अपने शत्रुओंको (जेतासि) जीतेगा इसलिये (युद्ध्यस्व) तू युद्धकरे ॥ ३४ ॥

भावार्थः——भगवान्‌ने जो पूर्वश्लोकमें अर्जुनसे कहा है, कि " तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व " इसलिये तू उठ और बडे-बडे पराक्रमी वीरोंको मारकर यश लाभ कर और फिर राज्यसुखोंका भोग कर। इसे सुन अर्जुनको बडी चिन्ता प्राप्त हुई और मनही मन विचारने लगा, कि ये वीर भला मुझसे कैसे मारे जावेंगे ? । इन वीरोंमें सबसे पहले तो महान् पराक्रमी द्रोणाचार्य्य जो धनुर्वेदके आचार्य्य तथा हमलोगोंके गुरु हैं फिर भीष्मपितामह हैं जिनको इच्छामरणकी शक्ति प्राप्त है अर्थात-जब चाहें तब ही मरें किसीके मारनेसे न मरें और जिनसे परशुरामजी भी युद्धमें न जीतसके लज्जित होकर लौट गये । फिर जयद्रथ है जिसके पिता वृद्धक्षत्रने इसलिये तप किया है, कि जो कोई मेरे पुत्रका शिर पृथ्वीपर गिरावेगा उसका शिर आपसे आप पृथ्वीपर कटकर गिरजावेगा । इसी प्रकार कर्ण जो साक्षात सूर्य्यहीके समान हैं जिसने सूर्य्यदेवकी आराधना करके महान पराक्रम और वीरता उत्पन्न की है तथा इन्द्रदेवने जिसे एक " पुरुषघातिनी " नामकी महाघोर शक्ति प्रदानकी है । इनसे अतिरिक्त जो कृपाचार्य, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा इत्यादि हैं ये सबके सब दुर्जेय हैं भला मैं इनको कैसे मारूंगा ?। अर्जुन थोडी देरतक मस्तक झुकाये हुए इसी चिन्तामें मग्न रहा ।

सबके हृदयके जाननेवाले भगवान जानगये, कि अर्जुन वीरोंका पराक्रम स्मरण कर व्यथाको प्राप्त होरहा है । ऐसा जानते ही कृपामय, दयासागर, भक्तवत्सल, करुणानिधान श्रीभगवान् अर्जुनको चिन्तारहित करनेके तात्पर्यसे बोले, कि [द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च कर्णं

तथाऽन्यानपि योधवीरान्] हे अर्जुन ! ये जो महान पराक्रमी दिव्य शस्त्रोंसे सम्पन्न युद्धकलामें चतुर तथा अपने प्राणोंके बचानेके लिये नाना प्रकारका यत्न कियेहुए जो द्रोणाचार्य हैं तिनको पश्चात् भीष्मको, जयद्रथको, कर्णको तथा इनसे भी इतर जो कृपाचार्य, अश्वत्थामा इत्यादि बडे-बडे वीर युद्ध करनेमें महा कुशल हैं [मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्धस्व जेतासि रणे सपत्नान्] तिन्हें तू पहले ही देखचुका है, कि ये सबके सब मुझसे मारेहुए हैं इसलिये तू व्यथाको मत प्राप्त हो किसी प्रकारकी चिन्ता मत कर ! तू युद्ध कर ! तू अवश्य इस घोर संग्राममें अपने शत्रुओंको जीतेगा यह निश्चय जान ।

इतना सुनकर अर्जुन फूला न समाया उसकी वीरता चौगुणी होगयी, युद्ध करनेका साहस उसके हृदयमें पूर्णरूपसे जग आया ॥ ३४ ॥

अब सञ्जय धृतराष्ट्रसे कहता है—

संजय उवाच । संजय बोला ।

सू०— एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य,
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं,
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

पदच्छेदः— किरीटी (अर्जुनः) केशवस्य ! (कृष्णस्य) एतत् (उक्तप्रकारम्) वचनम् (वाक्यम्) श्रुत्वा (निशम्य) कृताञ्जलिः (बद्धांजलिपुटः) वेपमानः (सर्वा-

गेषु कंपमानः) कृष्णम् (वासुदेवम्) नमस्कृत्वा (चरणयोः मुकुटयुक्तं शिरो निधाय) भीतभीतः (अतिशयेन भीतः) भूयः, एव (प्रणम्य) सगद्गदम् (वाष्पयुक्तेन कण्ठेन स्खलिताक्षरम्) आह (वक्ष्यमाणप्रकारेण उक्तवान्) ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(किरीटी) किरीटका धारण करनेवाला अर्जुन (केशवस्य) कृष्णभगवान्के (एतत्) इतने (वचनम्) वचनको (श्रुत्वा) सुनकर (कृतांजलिः) दोनों करोंको संपुट कर अंजलि बना (वेपमानः) कांपताहुआ (कृष्णम्) श्री वासुदेवको (नमस्कृत्वा) नमस्कार करके (भीतभीतः) बहुत डराहुआ (भूयः, एव) फिर भी बारम्बार (प्रणम्य) प्रणाम करके (सगद्गदम्) गद्गदवचनसे (आह) यों बोला ॥ ३५

क्या बोला सो अगले श्लोकसे जानना—

भावार्थः— भगवानने जो अर्जुनसे यह कहा, कि तू किसी प्रकारकी चिन्ता मत कर ! द्रोण, भीष्मादि वीरोंको मार ! क्योंकि ये सब पहलेहीसे मरे पडे हैं । सञ्जयके मुखसे इतना सुनते ही धृतराष्ट्र एकेबारगी चैांकपडा और घबराकर बोला, कि जब ऐसे-ऐसे वीर मारेजावेंगे तो मेरे दुर्योधनादि पुत्रोंकी क्या गिनती है ? इसलिये सञ्जयसे चौंककर पूछा, कि भाई आगे फिर क्या हुआ ? कहो तो सही ! संजय अपने मनमें विचारने लगा, कि धृतराष्ट्र अब ऐसे घबरागया है तो अवश्य कुछ सन्धि करनेका उपाय करेगा । ऐसा विचार सञ्जय यों बोला—[एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी] भगवान्के इतने वचनको सुनकर दोनों हाथोंको जोडकर सहमकर

किरीटधारी अर्जुन विचारने लगा, कि मैं इस समय क्या करूं? भगवान्ने तो मुझपर अत्यन्त प्रसन्न होकर मुझ ऐसे अधम और नीचपर बडी कृपा की है पर मैंने ऐसे त्रिलोकीनाथको साक्षात् जगदीश्वर न जानकर जो अपना साधारण सखा वा भ्राता तथा अपना प्रिय और संगी समझकर बातचीत इत्यादि करनेमें कभी-कभी बडी ढिठाइयां की हैं सो बडा ही अनुचित किया है। ऐसा न हो, कि भगवान्को इस समय वे सब बातें स्मरण होआवें तो मेरी बडी दुर्दशा हो। इसलिये भगवद्भयसे कांपता हुआ अपने किरीटको झुका अर्थात् भगवत्के विश्वरूपकी ओर मस्तक नवा कर [**नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं * भीतभीतः प्रणम्य**] बार-बार श्रीकृष्ण भगवान्को प्रणाम कर बहुत डरताहुआ गद्गद कण्ठसे बोला ॥ ३५ ॥

मू०— *स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या,
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति,
सर्व्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ३६

---

* "प्रेम्णाकुलतया बाष्पावरुद्धकंठेनोक्तमऽनिर्व्यलीकवचनम्" अर्थात् जब मनुष्यके हर्षमें एकबारगी हृदयको द्रवीभूत करनेवाले वचन वा किसी प्रेमीके संयोग वियोगके समय मनकी जो अति व्यग्र दशा होजाती है और वार्त्तालाप करते समय वाक्योंको उच्चारण करनेमें बडी असुविधा होती है तब उस दशाको **गद्गद्दशा** बोलते हैं।

* यह श्लोक मंत्रशास्त्रमें रक्षोघ्नमंत्रके नामसे प्रसिद्ध है तथा इसको नारायणाष्टाक्षर और सुदर्शनास्त्रमंत्रसे संपुटित जानना चाहिये।

पदच्छेदः— [हे] हृषीकेश ! (हृषीकाणां इन्द्रियाणाम् ईश ! सर्वेन्द्रियप्रवर्त्तक !) तव, प्रकीर्त्या (प्रकृष्टया कीर्त्या माहात्म्यसंकीर्त्तनेन । यशःश्रवणेन) जगत् (संसारमात्रम्) प्रहृष्यति (प्रकर्षेण हर्षं प्राप्नोति) अनुरज्यते (रतिं करोति। अनुरागमुपेति) च, भीतानि (भयाविष्टानि) रक्षांसि (राक्षसाः । नास्तिकाः) दिशः (सर्वासु दिक्षु) द्रवन्ति (पलायन्ते । गच्छन्ति) सर्वे (समस्ताः) सिद्धसंघाः (कपिलादि सिद्धानां समूहाः) च, नमस्यन्ति (नमस्कुर्वन्ति) [इति] स्थाने (युक्तम्) ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(हृषीकेश) हे सब इन्द्रियोंके ईश सबोंकी प्रेरणा करनेवाले सर्वान्तर्यामी ! (तव प्रकीर्त्या) तुम्हारे माहात्म्ययुक्त कीर्त्तनोंके करनेसे और यशोंके गान करनेसे (जगत्) संसारभर (प्रहृष्यति) आनन्दको प्राप्त होता है और (अनुरज्यते च) अनुरागको भी लाभ करता है । अर्थात् तुममें रतिकी प्राप्ति करता है पर (भीतानि) तुम्हारे भयसे डरते हुए जो-जो (रक्षांसि) राक्षसोंके समूह हैं वे (दिशः) जिधर-तिधर दशों दिशाओंमें (द्रवन्ति) भागे चले जाते हैं और (सर्वे सिद्धसंघाः) कपिलादि जो समस्त सिद्धोंके समूह हैं (नमस्यन्ति च) वे भी तुमको नमस्कार करते हैं ये सब बातें (स्थाने) युक्त ही हैं अर्थात् तुम्हारे योग्यही हैं इनमें आश्चर्य्य क्या है ? कुछ भी नहीं ॥ ३६ ॥

भावार्थः— अर्जुन यहांसे लेकर ११ श्लोकों तक भगवानकी स्तुति करता हुआ कहता है, कि [स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च] हे हृषीकेश ! सर्व इन्द्रियोंके

'प्रभु' अर्थात् चेतनमात्रके अन्तःकरणादिके साथ जो जो भिन्न-भिन्न इन्द्रियां हैं सबोंको अपने वशमें रखे हुए अपनी इच्छानुसार यत्र-तत्र भिन्न-भिन्न कार्य्योंमें प्रेरणा करनेवालोंमें हो इसी कारण तुम सबके अन्तर्यामी कहे जाते हो अर्थात् सबके अन्तर्हृत्को संयमन करनेवाले जो तुम हृषीकेश हो सो यह सम्पूर्ण जगत् तुम्हारे महत्त्व तथा आश्चर्य्यसे भरे हुए कार्य्योंका बार-बार स्मरण तथा तुम्हारे यशोंका गान करता हुआ तुम्हारे संकीर्त्तनमें मग्न है। चारों पहर तुम्हारी ओर टक लगाकर तुम्हारा ही नाम स्मरण करते-करते परम हर्षको प्राप्त होकर तुम्हारे ही आनन्दमयस्वरूपमें अनुरागको प्राप्त करता है और जो ऐसा नहीं करता वह राक्षसस्वरूप है उसे सुख कदापि नहीं होसकता। यह वार्त्ता युक्त है अर्थात् ऐसा होना ही चाहिये।

प्रमाण श्रुतिः— "ॐ एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति। तम्पीठं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतन्नेतरेषाम्" (गोपालपूर्वता० उप० श्रु० ३)

अर्थ— वह जो आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र सबोंको अपने वशमें रखने वाला, सर्वव्यापक और सबोंसे स्तुति किये जानने योग्य है वह एकही है पर एक होनेपर भी जो बहुत होजाता है ऐसे 'पीठम्' अर्थात् स्वर्णासन कृष्णको जो धीरलोग मुक्तजन सदा भजते हैं उन्हीको निरन्तर सुखकी प्राप्ति है। पर इनसे इतर जो अभक्त हैं और अज्ञानी हैं अर्थात् राक्षसस्वभाव हैं वा राक्षस ही हैं उनको किसी भी प्रकारके सुखकी प्राप्ति नहीं है।

इसलिये अर्जुन कहता है कि [रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः] राक्षस लोग तुम्हारे स्वरूपसे डरतेहुए मारे भयके जहां-तहां भागे जाते हैं पर सिद्धोंके समूह तुम्हें नमस्कार कररहे हैं। क्योंकि भक्तोंके लिये तो तुम्हारा स्वरूप अत्यन्त सुन्दर, कोमल, मधुर तथा करुणा इत्यादि रसोंसे भराहुआ परममनोहर मन्द २ मुसकानके साथ चित्तका चुरालेनेवाला है और तुम्हारा वही परम मंगलमयशान्तस्वरूप दुःखोंको शमन करनेवाला है पर राक्षसोंके लिये तो महाभयंकर परमविकराल कालस्वरूप है। इनको तुमसे किसी प्रकारका सुख प्राप्त नहीं होसकता। क्योंकि ये तुमसे विमुख हैं। सो हे हृषीकेश ! तुमसे डरकर भागना भी 'स्थाने' इन लोगोंके लिये युक्त ही है ऐसा होना ही चाहिये ॥ ३६ ॥

अब ये सिद्धगण क्यों नमस्कार करते हैं ? तिसका कारण अर्जुन अगले श्लोकमें वर्णन करता है—

मू०— कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्,
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त! देवेश! जगन्निवास !,
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

पदच्छेदः— [हे] महात्मन्! (अपरिच्छिन्न स्वरूप! परमात्मन्) [हे] अनन्त [हे] (+ त्रिविधपरिच्छेदशून्य!) [हे] देवेश ! (महेश्वर!) [हे] जगन्निवास! (विश्वाधार! जगतामालयभूत !

+ देश, काल और वस्तु

जगदधिष्ठान!) ब्रह्मणः (हिरण्यगर्भस्य) अपि, गरीयसे (गुरुतराय) आदिकर्त्रे (ब्रह्मणोऽपि जनकाय) च, ते (तुभ्यम) कस्मात् न, नमेरन् (नमस्कुर्युः) सत् (विधिमुखेन प्रतीयमानम् व्यक्तम् कार्य्यम) असत् (निषेधमुखेन प्रतीयमानम्) परम् (सदसद्भ्यामतीतम्) यत्, अक्षरम् (शुद्धब्रह्म) तत्, त्वम् [असि] ॥ ३७ ॥

पदार्थः— (महात्मन् !) हे परमात्मन्! (अनन्त!) हे अन्त रहित! देश, काल और वस्तुके परिच्छेदोंसे रहित! (देवेश!) हे सब देवताओंके ईश महेश्वर! (जगन्निवास!) हे सम्पूर्ण जगतके आधार! (ब्रह्मणः अपि) ब्रह्मासे भी (गरीयसे) गुरुतरके लिये अर्थात् (आदिकर्त्रे च) ब्रह्मासे भी पहले सम्पूर्ण जगत्के आदिकर्त्ता (ते) तुम्हारे लिये कपिलादि सिद्धगण (कस्मात्) क्यों (न नमेरन्) नहीं नमस्कार करेंगे ? अर्थात् अवश्य करेंगे क्योंकि (सत्) जो अव्यक्तमूर्त्ति सम्पूर्ण जगत्का कारण तथा (असत्) जो व्यक्तमूर्त्ति यह संपूर्ण जगत् इन दोनोंसे (परम्) परे (यत् अक्षरम्) जो अविनाशी स्वरूप ब्रह्म है (तत्) सो भी तो (त्वम्) तुम ही हो तुमसे इतर अन्य कोई भी नहीं है ॥ ३७ ॥

भावार्थः— पहले जो अर्जुन भगवान्के सम्मुख कहचुका है, कि संपूर्ण जगत् अर्थात् देव, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, मनुष्य इत्यादि तथा कपिलादि सिद्धपुरुष तुमको नमस्कार कररहे हैं अब इसी नमस्कार करनेका कारण इस श्लोकमें दिखलाताहुआ कहता है, कि

[कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्! गरीयसे ब्रह्मणो-प्यादिकर्त्रे] हे परमात्मन्! ये जगन्निवासी प्राणी तथा सिद्ध-गण तुमको क्यों नहीं नमस्कार करेंगे? क्योंकि तुम ब्रह्मदेवको उत्पन्न करनेवाले हो इसीलिये श्रेष्ठ आदिकर्त्ता कहेजातेहो वे तुम्हें अवश्य नमस्कार करेंगे उनको करनाही योग्य है । यदि वे तुमको नमस्कार करें तो इससे तुम कुछ बडे नहीं होजाते हो । तुमको इनके नमस्का-रादिकी इच्छा भी नहीं है तुम तो स्वयं सर्वकामनापूर्ण हो तुमको भला इनके नमस्कारोंसे क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं! ये तो स्वयं अपने प्रयोजनसे अपनी उन्नति तथा रक्षा निमित्त कल्याण और सुखके हेतु तुमको नमस्कार करते हैं सो इनको करना ही योग्य है । यदि न करें तो इनकी अपनी हानि है, तुम्हारी कुछ हानि नहीं । क्योंकि ये कैसे पुरुषके लिये नमन करते हैं— " गरीयसे ब्रह्मणो-प्यादिकर्त्रे " तुम जो गुरुसे भी गुरुतर हो और ब्रह्मा (हिरण्य-गर्भ) के भी उत्पन्न करनेवाले हो तिसी आदिकर्त्ताके लिये ये लोग नमन करते हैं ।

यहां जो अर्जुनने " ब्रह्मणोप्यादिकर्त्रे " वाक्य कहकर भगवान्की स्तुति की है उसे योगसूत्र भी सिद्ध करता है— प्र० " स एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् " (पतं० अ० १ सू० १६) अर्थात् ये ब्रह्मादि देव सबोंसे पूर्व हैं तिनका भी वह परब्रह्म गुरु है क्योंकि कालसे अनवच्छिन्न है अर्थात् रहित है इसी कारण सबके सब उसे नमस्कार करते हैं ।

फिर अर्जुन कहता है, कि [**अनन्त! देवेश! जगन्निवास! त्वमक्षरं सदसत् तत् परं यत्**] हे अनन्त ! हे सब देवताओंके ईश ! हे संपूर्ण जगत्के आधार ! तुम जो अनन्त कहे जाते हो इसका दूसरा कारण यह भी है, कि अनगिनत प्रलय होजावें तो होजावें पर तुम्हारा कभी भी नाश नहीं होगा । इसीलिये तुम अनन्त कहेजाते हो अर्थात् कालकरके तुम अवच्छिन्न नहीं हो । इसी प्रकार किसी देश करके भी तुम अवच्छिन्न नहीं हो अर्थात् यदि कोई पूर्वकी ओर तुम्हारा अन्त लेने जावे तो करोडों वर्ष पर्य्यन्त चलता ही रहजावे पर ऐसा कोई भी स्थान नहीं मिलेगा जहां तुम्हारी व्यापकताकी समाप्ति होजावे । इसी प्रकार पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशा विदिशा तथा ऊपर स्वर्गलोक, महलोंक, जनलोक इत्यादि नीचे अतल, वितलादि किसी भी लोकोंतक दौडता चला जावे पर किसी ओर तुम्हारा अन्त नहीं पासक्ता । इसलिये देश करके भी तुम अवच्छिन्न (बद्ध) नहीं हो । इसी कारण तुम अनन्त कहे जाते हो । फिर तुम वस्तुकरके भी अवच्छिन्न नहीं हो । अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, सूर्य्य, चन्द्र, वृक्ष, फल, फूल इत्यादि जहांतक वस्तुओंकी गणना की जावे कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जहां तुम न हो वरु सर्वत्र, सब ठौर सब वस्तुओंमें व्यापक हो । इसलिये तुम वस्तु करकेभी अवच्छिन्न नहीं हो । इसी कारण तुम अनन्त कहे जाते हो।

फिर हे भगवन् ! तुम जो देवेश कहेजाते हो इसका कारण यह है, कि ब्रह्मा तथा इन्द्रादि जितने देव हैं सबोंके तुम प्रभु

हो, सबोंपर तुम्हारी आज्ञा है, सब तुम्हारे ही वशमें हैं तुम किसीके वशमें नहीं हो। फिर 'देव' कहिये इन्द्रियको सो तुम सब इन्द्रियोंके भी ईश और प्रेरक हो इसलिये भी तुम 'देवेश' कहेजाते हो। फिर देव शब्दका अर्थ दाता, द्योतयिता और दीपयिता भी है इसलिये जितने देनेवाले दानी तथा क्रीडा करनेवाले और प्रकाश करनेवाले हैं सबोंके अधिपति तुम ही हो।

प्रमाण श्रुतिः—"ॐ सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः" अर्थ स्पष्ट है।

(बृहदा० अ० ४ श्रु० २)

हे भगवन्! फिर तुमको मैं जगन्निवास कहकर इसलिये पुकारता हूं कि तुम संपूर्ण जगत्के निवासस्थान हो अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड तुममें स्थित है तुम सबके अधिष्ठानहो। हेभगवन्! तुम 'सदसत्तत्परंयत्' अर्थात्' सत् हो फिर असत् हो तथा दोनोंसे परे भी तुमही हो। सत् जो यह विधिमुख करके प्रतीयमानहै अर्थात् जिसकी स्थिति साक्षात् नेत्रोंसे देखनेमें आती है जैसे सूर्य्य, चन्द्र, जल, पृथ्वी इत्यादि अर्थात् नाम और रूप करके जो संसार कहलाया है तात्पर्य्य यह है, कि यह जगत् जो व्यक्तरूप है और जिसके भिन्न-भिन्न अवयव सर्वत्र सब ठौर प्रत्यक्ष देखे जाते हैं वही सत् कहा जाता है सो भी हे भगवन्! तुम ही हो और इस जगत्से पूर्व जो असत्रूप ब्रह्म जिसकी प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती क्योंकि "न तत्र चक्षुर्गच्छति" इत्यादि श्रुतियोंके प्रमाण से भी सिद्ध है, कि जिसे आंखें नहीं देख सकतीं और जो निषेधमुखकरके भी अप्रतीयमान है जिसे "न विद्मो न विजानीमो" करके श्रुति पुकारती है कि न मैं जानती हूं और न जनासकती हूं ऐसे असत् भी हे भगवन्! तुमही हो।

प्रमाण श्रु०—" असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत तदात्मानꣳस्वयमकुरुत तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति "
(तैत्ति० व० २ अनु० ७)

अर्थ— इस संसारके दृश्यमान होनेसे पहले असत् ब्रह्म था जो किसीके द्वारा नहीं जाना जावे उसे कहिये असत् सो जो ऐसा असत् था तिससे सत् उत्पन्न हुआ अर्थात् यह जो सम्पूर्ण जगत प्रतीत होरहा है सो उत्पन्न हुआ । क्या यह जगत ऐसे उत्पन्न हुआ जैसे पितासे पुत्र उत्पन्न होता है ? तो कहते हैं नहीं ! ऐसे नहीं उत्पन्न हुआ । तो फिर कैसे उत्पन्न हुआ ? तो कहते हैं, कि उस असत् ब्रह्मने अपने आपही सत् करदिया अर्थात् असत से सत् होगया । तात्पर्य्य यह है, कि स्वयं ही अपने निराकार (निरवयवस्वरूप) से साकार 'सावयवस्वरूप' बन गया । न कोई दूसरा था और न कोई हुआ इसी कारण उसको सुकृत नामसे भी पुकारते हैं ।

फिर अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! इस सत् और असतसे भी परे अर्थात विलक्षण भी तुमही हो । अर्थात् जिसे न तो सत् कहसक्ते हैं और न असत कहसकते हैं सो तुम ही साक्षात अक्षर ब्रह्म हो अर्थात अविनाशी हो ।

अर्जुनके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि सत, असत तथा इन दोनोंसे परे जो अक्षर ब्रह्म कहाजाता है सो भी तुम ही हो तुम से इतर कोई दूसरा नहीं है इसलिये ये ऋषि, मुनि, योगी, सिद्धगण तुमको क्यों नहीं नमस्कार करेंगे ? अवश्य करेंगे॥ ३७

फिर तुम कैसे हो ? सो सुनो—

मू०— त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम,
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ! ॥ ३८ ॥

पदच्छेदः—[हे] अनन्तरूप ! (अन्तो न विद्यते यस्य रूपाणामसौ अपरिच्छिन्नमूर्त्ति !) त्वम्, आदिदेवः (जगतः-स्रष्टृत्वात् ब्रह्मादिदेवानामादिः) पुरुषः (सर्वशरीरेशायी) पुराणः (चिरन्तनः) त्वम्, अस्य, विश्वस्य (चराचरस्य) परम् (श्रेष्ठम्) निधानम् (प्रलयकाले लयस्थानम्) [तथा] वेत्ता (सर्वस्यैव वेदजातस्य वेदिता 'ज्ञाता') असि, वेद्यम्, (सर्वै-र्वेदैः प्रतिपादयितुं योग्यम् । वेदार्हम्) च [असि] परम्, (उत्कृष्टम्) धाम (स्थितिकाले सर्वेषां निवासस्थानम् । वैष्णवं-पदम्) च [असि] त्वया (चिद्रूपेण) विश्वम् (ब्रह्माण्डम्) ततम् (सत्तास्फूर्त्तिभ्याम् व्याप्तम्) [एतैश्च सप्तभिर्हेतुभिस्त्वमेव नमस्कार्य्यः)

पदार्थः— (अनन्तरूप !) हे अनन्तस्वरूप भगवन् ! (त्वम्) तुम (आदिदेवः) सृष्टिके आदिकारण होनेसे ब्रह्मादि-देवोंसेभी पूर्व तथा (पुरुषः पुराणः) पुराण पुरुष हो अर्थात् बहु-कालीन हो फिर (त्वम्) तुम (अस्य विश्वस्य) इस ब्रह्माण्डके (परं निधानम्) सबसे उत्कृष्ट लय होनेका स्थान हो तथा तुम

(वेत्ता) सबके जाननेवाले (असि) हो और (वेद्यम् च) जानने योग्य भी तुम ही हो और (परं धाम च) वैष्णवपद भी तुम ही हो (त्वया) तुम्हारे ही चिद्स्वरूपसे (विश्वम) यह संसार (ततम्) व्याप्त है अर्थात् तुम्हारी ही सत्ता और तुम्हारी ही स्फूर्त्ति सर्वत्र व्यापरही है ॥ ३८ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन भगवानकी सात उत्तम विशे- षणोंसे विभूषित कर स्तुति करता हुआ कहता है, कि [**त्वमादि- देवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्**] हे भगवन् ! आदिदेव और पुराणपुरुष तुम ही हो तथा इस संसारका परम श्रेष्ठ लयस्थान भी तुमही हो अर्थात् यह संसार तुम हीसे उत्पन्न होता है और तुमहीमें लय होजाता है । फिर हे भगवन् ! [**वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप!**) सबके ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ फिर सबोंसे जानने योग्य भी तुम ही हो तथा परम धाम जो सबसे श्रेष्ठ स्थानवाला विष्णुपरमपद सो भी तुम ही हो । हे अनन्त ! अर्थात् जिसका अन्त किसीने भी कभी नहीं पाया सो तुम्हारे चिद्रूपसे अर्थात् चेतनस्वरूपसे यह सारा ब्रह्माण्ड व्यापरहा है ।

इस श्लोकमें अर्जुनने १. आदिदेव, २. पुराणपुरुष, ३ पर- निधान, ४. वेत्ता, ५. वेद्य ६. परमधाम और ७. अनन्तरूप इन सातों विशेषणोंसे युक्त करके भगवानकी स्तुति की है ।

इन सातों विशेषणोंका सांगोपांग वर्णन कतिपय श्लोकोंमें पुनः पुनः किये जाचुके हैं अतएव यहां संक्षिप्त कर कहागया ॥ ३८ ॥

अब अर्जुन भगवान्की उन विशेष-विशेष विभूतियोंकी स्तुति करता है जिन्हें भगवान् अपने मुखारविन्दसे अध्याय १० में कह आये हैं—

मु०— वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः,
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः,
पुनश्च भूयोपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

पदच्छेदः— त्वम्, वायुः (जगत्प्राणः) यमः (यमयति यथाकर्मसर्वप्राणिनः दमयतीति यः) अग्निः (पावकः । अनलः) वरुणः (अपां पतिः) शशांकः (चन्द्रः) प्रजापतिः (वैराजपुरुषः । अथवा कश्यपादि-हिरण्यगर्भान्तः) प्रपितामहः (पितामहस्य ब्रह्मणोऽपि पिता) ते (तुभ्यम) सहस्रकृत्वः (सहस्रवारम) ❀ नमः नमः अस्तु, च (तथा) ते, पुनः (भूयोपि) अपि, भूयः (अधिकम् । बारम्बारम्) नमः नमः (नमस्कारः नमस्कारः) [अस्तु] ॥३९ ॥

पदार्थः— हे भगवन् ! (त्वम) तुमही (वायुः) पवन हो तुम ही (यमः) यम हो तुम ही (अग्निः)अग्नि हो तुम ही (वरुणः) जलके पति वरुण हो तुम ही (शशांकः) चन्द्रमा हो तथा (प्रजा-पतिः) विराट्पुरुष अथवा कश्यपसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त तुम ही हो फिर (प्रपितामहः, च) ब्रह्माके भी पिता हो (ते) तुम्हारे लिये

❀ नमः आदरे वीप्सा नाम द्विरुक्तिः ।

(सहस्रकृत्वः) सहस्रों बार (नमः नमः अस्तु) नमस्कार हो नमस्कार हो (ते) तुम्हारे लिये (पुनः अपि) फिर भी (भूयः) बारंबार अनगिनत (नमः नमः अस्तु) नमस्कार होवे ! नमस्कार होवे ! अर्थात् जैसे तुम अनन्तरूप हो तैसे मेरा भी अनन्त बार तुमको नमस्कार होवे ॥ ३६ ॥

भावार्थः— पहले जो अर्जुनने भगवानको मुख्य सात विशेषणोंसे विभूषित करके अन्तमें ' हे अनन्त ! ' ऐसा कहकर पुकारा सो इस अनन्त ऐसे विशेषणको सबसे विशेष मानकर अनन्तत्वके दिखानेके तात्पर्य्यसे कहता है, कि [वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च] हे भगवन् ! उनचासों वायु तुम ही हो तथा जीवमात्रके उत्पन्न होने तथा जीवित रहनेका मुख्य कारण जो प्राणवायु सो भी तुम ही हो क्योंकि तुम प्राणरूप वायु होकर यदि शरीरोंमें प्रवेश न करो तो कोई शरीर ही न उत्पन्न होवे और न स्थिर रहसके । मृतकके समान पड़ा रहजावे सब इन्द्रियां शिथिल और निरर्थक होजावें । प्रमाण श्रु०— " ॐ प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते प्राणेन जातानि जीवन्ति " (तैति० भृगुवल्ली) इस श्रुतिसे सिद्ध है, कि जीवमात्र इस संसारमें प्राणही द्वारा उत्पन्न होकर स्थिर रहते हैं सो प्राणवायु हे भगवन ! तुमही हो । फिर यम भी हो अर्थात् प्राणियोंके कर्मानुसार उनको स्वर्ग नरकके प्रदान करनेवाले तुम ही हो तथा सप्तजिह्व अग्नि भी तुमही हो । गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि, दक्षिणाग्नि, सभ्य, अवसथ्य और औपासन ये छवों प्रकारकी अग्नि भी तुम ही हो तथा प्रसिद्ध

जो उनचास प्रकारकी वायु हैं सो सब भी तुमही हो। गृहप्रवेशादिके समय पावक नाम अग्नि तथा गर्भाधानके समय मारुत, पुंसवनके समय चन्द्र, शुंगाकर्मके समय शोभन, सीमन्तके समय मंगल, जातकर्मके समय प्रगल्भ, नामकरणके समय पार्थिव, अन्नप्राशनेक समय शुचि, चूडाकरणके समय सत्य, उपनयनके समय समुद्भव, गोदान के समय सूर्य, केशांत अर्थात् समावर्त्तनसंस्कारके समय अग्नि, विसर्ग के समय (जो एक विशेष अग्निकर्म है) वैश्वानर, विवाहके समय योजक, चतुर्थीके समय शिखी, अन्य होमादिके समय धृति, प्रायश्चित्त के समय विधु, पाकयज्ञ वृषोत्सर्ग अर्थात् गृहप्रतिष्ठाके समय साहस, एक लक्ष्य होमके समय वह्नि, कोटि होमके समय हुताशन, पूर्णाहुतिके समय मृड, शान्तिपाठके समय वरद, पौष्टिकके समय बलद, वश करनेके समय शमन, वरदानके समय अभिदूषक, कोष्ठमें जठर और अमृत भक्षणके समय क्रव्य इत्यादि जो अग्निके नाम हैं सो सब अग्नि हे भगवन्! तुम ही हो। फिर वैदिक मन्त्रसे जो भौम, दिव्य और औदर्य ये तीन प्रकारकी अग्नि हैं सो भी तुम ही हो।

ऐसे तुम्हारे अग्निरूपकी स्तुति ऋग्वेदने प्रथम मन्त्रमें "ॐ अग्निमीले पुरोहितम्" करके किया है।

फिर जल तथा जलदेवता वरुण भी तुमही हो। मुख्य अभिप्राय यह है, कि आग पानी सब तुम ही हो।

फिर शशांक जो चन्द्रमा सो भी तुम ही हो। कश्यप और दक्ष से हिरण्यगर्भ पर्यन्त जो प्रजापति कहेजाते हैं सो सब भी तुम ही हो।

फिर प्रपितामह अर्थात् पितामह जो ब्रह्मा तिनके भी पिता अर्थात् उत्पन्न करनेवाले तुम ही हो।

सो हे भगवन्! तुम्हारा जो ऐसा अनन्त स्वरूप है तिस तुम्हारे स्वरूपको [**नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते**] सहस्रोंबार नमस्कार होवे और पुनः अनेकोंबार नमस्कार होवे। इतना कहकर अर्जुनने भगवान्को मस्तक झुका नमस्कार किया और सहस्रों बार नमस्कार किया अथवा सहस्रोंबार नमस्कारका फल केवल एक-एक नमस्कारमें लाभ किया फिर अर्जुनके चित्तमें ऐसा अनुभव हुआ, कि ऐसे अनन्तस्वरूप भगवान्के लिये यदि सहस्रों ही नमस्कार कियेजावें तो यह भी मानों! समुद्रको एक अंजलि जलसे सन्तोषित करना है। और एक प्रकारका बावलापन है। भला जिसके अनन्तस्वरूपको सारा विश्व नमस्कार कररहा है। चन्द्र, सूर्य, तारागण तथा कोटानकोटि ऋषि, मुनि, देव, गन्धर्व, नाग किन्नर, मनुष्य इत्यादि सभी अहर्निश न जाने कितनी बार नमस्कार कररहे हैं उनको केवल एकबार नमस्कार से कैसे सन्तोष होसकता है? ऐसा मनमें आते ही अर्जुन फिर एकबार भगवान्की मूर्त्तिकी ओर नीचेसे ऊपर तक देखकर मस्तक झुका बोला, कि "**पुनश्च भूयोपि नमो नमस्ते**" हे भगवन्! एक ही बार नहीं वरु फिर भी बारम्बार अनेकानेक नमस्कार तुम्हारे लिये होवें अर्थात् मैं अनगिनत बार तुम्हारे अनन्तस्वरूपको नमस्कार करता हूं। इतना कहकर अर्जुनने भगवान्के अनन्तस्वरूपका आदरमात्र किया। क्योंकि जहां आदर और वीप्सा करनेकी आवश्यकता होती है तहां "नमः नमः" बारम्बार कहाजाता है॥ ३९॥

अब अर्जुन भगवान्के अनन्तस्वरूपकी स्तुति करनेके पश्चात् उनकी व्यापकताकी स्तुति करता है—

मु०— नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते,
नमोस्तु ते सर्व्वत एव सर्व्व।
अनन्तवीर्य्यामितविक्रमस्त्वं
सर्व्वं समाप्नोषि ततोसि सर्व्वः ॥ ४० ॥

पदच्छेदः— [हे] सर्व्व ! हे अनन्तवीर्य्य ! (अमित सामर्थ्यशालिन्) पुरस्तात् (पूर्वस्यां दिशि अग्रभागे वा) अथ, पृष्ठतः (पृष्ठभागे । प्रतीच्यां दिशि) नमः (नमस्कारः) अस्तु (भवतु) ते, सर्व्वतः (सर्वासु दिक्षु) एव, नमः (अस्तु) त्वम् अमितविक्रमः (अपरिमितपराक्रमः) सर्व्वं समस्तम् समाप्नोषि (अन्तर्वहिर्व्याप्य तिष्ठसि । सम्यगेकेन सद्रूपेणाप्नोषि । सर्वात्मना व्याप्नोषि) ततः (तस्मात् कारणात्) सर्वः (सर्वरूपः) असि ॥ ४० ॥

पदार्थः—(सर्व्व !) हे सर्वव्यापिन्! सर्वस्वरूप! तथा (अनन्तवीर्य) हे असीम सामर्थ्यवाले (ते) तुम्हारे लिये (पुरस्तात्) आगेकी ओर। (अथ) और (पृष्ठतः) पीछेकी ओर (नमः) नमस्कार होवे फिर (ते) तुम्हारे लिये (सर्वतः) चारों ओरसे तथा सब ओर से (एव) निश्चय करके बारम्बार (नमः) नमस्कार होवें (त्वम्) तुम (अमितविक्रमः) अपरिमित पराक्रमवाले हो तथा (सर्वम्) सम्पूर्ण विश्वमें (व्याप्नोषि) व्यापरहे हो सबके अन्तर और बाहर तुमही हो (ततः) इसलिये (सर्व्वः) तुम सर्वस्वरूप (असि) हो ॥ ४० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो पहले ३८ वें श्लोकमें कहा है, कि "त्वया ततम् विश्वम्" तुमसे विश्वमात्र व्याप्त है इसी विषयको इस श्लोकमें पूर्णप्रकार स्पष्टरूपसे दिखलाताहुआ कहता है, कि [**नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोस्तुते सर्वत एव सर्वः**] हे भगवन् ! इस मेरे शरीरसे आगे तथा पीछेकी ओर नमस्कार होवे इतना ही नहीं, वरु हे सर्वस्वरूप ! तुम्हारे लिये मेरा सर्व ओरसे नमस्कार होवे तात्पर्य यह है, कि मैं अर्जुन इस अपने शरीरका बद्ध हूं और इसी शरीरकी अपेक्षा अग्रभाग और पृष्ठभागका बोध होता है सो यदि मैं अपना मस्तक आगेको झुकाता हूं तो पृष्ठभाग (पीठकी ओर) रहजाता है इसलिये मैं पृष्ठभागमें भी तुमको नमस्कार करता हूं क्योंकि तुम तो जिस रूपसे आगे हो उसी रूपसे पीछे भी हो पर मैं मनुष्य एकदेशीय मस्तक रखनेके कारण चारों ओर एकही बार नमस्कार करनेमें असमर्थ हूं इसलिये तुम अन्तर्यामी भक्तवत्सल सबके हृदयकी गति तथा सबके हृदयकी शक्ति जाननेवाले मेरे नमस्कारको आगे पीछे दोनों ओर स्वीकार करोगे ! इसकारण " **नमोस्तुते सर्वत एव सर्वः** " हे सर्वस्वरूप ! तुम्हारे लिये सब ओरसे नमस्कार होवे अर्थात् आगे पीछे, दायें, बाएं, ऊपर, नीचे, जिधर देखिये उधर ही तुम हो ।

प्रमाण श्रु०— " ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् "

(मुं० २ खं० २ श्रु० ११)

अर्थ— यह जो अमृतस्वरूप ब्रह्म है सो आगे भी वही ब्रह्म है, पीछे भी वही ब्रह्म है, दक्षिण और उत्तर अर्थात् दाएं बाएं भी वही ब्रह्म है। नीचे भी और ऊपर भी अर्थात् जिधर देखो उधर वही ब्रह्म फैलाहुआ है । अभिप्राय यह है, कि वही ब्रह्म इस सम्पूर्ण विश्वमें वर्तमान है।

इसी कारण अर्जुन अपनी भक्तिको तथा हृदयके प्रेमको प्रकट करताहुआ भगवत्के विश्वरूपके सम्मुख खडा सब ओरसे नमस्कार करताहुआ और भगवान्‌की सर्वव्यापकता सिद्ध करताहुआ कहता है, कि हे सर्व स्वरूप । तुम्हें सब ओरसे मेरा नमस्कार पहुंचे । हे नाथ ! तुम कैसे हो ? कि [अनन्तवीर्यामितविक्रम-स्त्वम् सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः] तुम अनन्त वीर्यवाले-और चराचरमात्रके भीतर बाहर व्यापरहे हो तुम्हारे अतुल पराक्रम की कहीं भी सीमा नहीं है । तुम्हारी जिस रचनाकी ओर दृक्पात होता है उसी ओरसे बुद्धि थकथकाकर ढीली होजाती है कहीं भी तुम्हारी असीम शक्तिकी सीमा नहीं पाती। इससे प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, कि तुम्हारी अनन्त शक्तिका कहीं भी अन्त नहीं है । तुम चाहो तो करोडों ब्रह्माण्डोंको पल मारते-मारते एक छोटीसी सूईकी नोंक पर ऐसे नचादो जैसे बालक एक छोटीसी घिरनीको नचाया करते हैं । तुम चाहो तो एक सूईके रन्ध्र होकर सहस्रों हिमाचल सदृश पर्वतोंको पैठाल लो और निकाललो। कहांतक कहूं ? तुम्हारे अपरिमित पराक्रमका अन्त न तो आजतक किसीको मिला और न मिलेगा । चाहे असंख्य ब्रह्माण्डोंके अनगिनत योद्धा गण क्यों न एकत्र होजावें पर तुम्हारे

वीर्य (सामर्थ्य) के सम्मुख उन सबोंकी वीरता एक समुदाय होकर ऐसे है जैसे महासागरकी अनन्त जलराशिके सम्मुख एक अत्यन्त लघुतर जलसीकरे (छोटी बूंद)। इसलिये हे भगवन्! मैं तुम्हें अनन्तवीर्य कहकर सम्बोधन करता हूं।

शंका—अब यहां बहुतेरे विद्वानोंके चित्तमें यह शंका उत्पन्न होगी कि अनन्तवीर्य्य और अमितविक्रम इन दोनों पदोंके तो समान ही अर्थ हैं। फिर अर्जुनने एक ही अर्थके दो विशेषणों को कहकर भगवान् की स्तुति क्यों की ? क्या यह पुनरुक्ति दोष नहीं है ?।

समाधान— यहां भगवान्की स्तुति करतेहुए यदि कोई भक्त प्रेमविभोर होकर भगवत्के एक ही गुणको सहस्त्रों बार कहकर स्तुति करे तो उसे पुनरुक्ति नहीं कहसकते। वरु एवम् प्रकार बार-बार पुकारनेसे प्रेम और भक्तिरसकी वृद्धि होती है। जैसे "हरे राम २ राम राम हरे हरे हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।" यहां भक्तने भगवान् को बार-बार कृष्ण कृष्ण और राम राम कहकर पुकारा है इसे पुनरुक्ति नहीं कहसकते इसे भक्तिरस कहते हैं। किन्तु बहुतेरे शुष्क विद्वान् जो पठनपाठनमें तथा न्याय इत्यादि दर्शनोंमें तो परम प्रवीण हैं पर भक्तिसे एकबारगी शून्य हैं वे यों कहपड़ेंगे, कि नहीं यह तो तुम ने भक्तिपक्ष लेकर उत्तर दिया यथार्थ शब्दोंके अर्थसे उत्तर देकर शंकाका समाधान करो! तो लो साहब! अब मैं उन विद्वानोंके बोध निमित्त समाधान करता हूं।

अब जानना चाहिये, कि वीर्य्य और विक्रम यहां दो शब्द हैं सो वीर्य्य कहते हैं प्रभाव पराक्रम और वल विक्रम कहते हैं शौर्य्य विद्याकी निपुणताको अर्थात् शस्त्रोंके प्रहारमें तथा बाणोंके संधानमें और भिन्न-भिन्न युद्धकलाओंमें निपुण होना। प्रायः ऐसा देखाजाता है, कि बहुतेरे पुरुष शारीरिक बलमें तो पर्य्याप्त हैं पर शस्त्रों के प्रहारादिमें कुशल नहीं है। जैसे भीम जो शारीरिक ओजस्वितासे तो युक्त था अर्थात् बलमें तो बहुत विशेषता रखता था पर शस्त्र-कलामें उतनी कुशलता नहीं थी। इसीके उलटा बहुतेरे वीर शस्त्रादि प्रहार तथा युद्धकलामें तो परम प्रवीण होते हैं पर शरीरसे उतने बलवान् नहीं होते जैसे युधिष्ठिर।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि कोई शरीरका बलवान् और कोई शस्त्रकलामें विद्वान् होता है इसलिये यहां अर्जुनके कहनेका तात्पर्य यह है हे भगवन्! तुम तो अनन्तवीर्य्य भी हो और अमितविक्रम भी हो। तुममें बल और शस्त्रविद्या दोनों पूर्ण हैं।

इसी अर्थको शंकराचार्य्यने अपने भाष्यमें यों कहा है, कि— "वीर्यवानपि कश्चिच्छस्त्रादि विषये न पराक्रमते" अर्थात् वीर्यवान भी कोई शस्त्रादिमें पराक्रमी नहीं होता।

फिर मधुसूदनने भी ऐसा ही अर्थ किया है, कि "एकं वीर्याधिकं मन्य उतैकं शिक्षयाधिकम् त्वं तु अनन्तवीर्यश्चामितविक्रमश्च" यहां अमितविक्रम और अनन्तवीर्य दोनों पदोंका एक साथ अर्थ किया है और दोनों मिलाकर एक पद किया है।

किसी-किसी भाष्यकारने अनन्तवीर्य्य पदको अलग करके सम्बोधनमें रक्खा है। अर्थात् हे अनन्तवीर्य ! तुम जो अमित पराक्रम-वाले हो सो मैं तुमको बार-बार नमस्कार करता हूं।

अब अर्जुन कहता है, कि " सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व्वः" हे भगवन् ! तुम सब चराचरके अन्तर और बाहर व्यापरहे हो। एक पिपीलिका तथा एक तृण (तिनका) से लेकर ब्रह्मा तथा सुमेरु पर्वत पर्य्यन्त जितने पदार्थ इस तुम्हारी रचनामें हैं सबके बाहर भीतर व्याप रहे हो। श्रुति भी ऐसा ही कहती है, कि "ॐ दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स वाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मुं० खं० १ श्रु० १)

अर्थ— सो जो अमूर्त्तिमान् दिव्य पुरुष है और अजन्मा है वह सर्वत्र बाहर भीतर व्याप रहा है।

अब अर्जुन कहता है, कि एवम् प्रकार तुम सर्वत्र सब ठौर सब जड तथा चेतनमें तद्रूप होकर व्यापरहे हो इसी कारण तुम 'सर्व' कहेजाते हो ॥ ४० ॥

एवम्प्रकार भगवान्को बार-बार नमस्कार कर अब अर्जुन अपनी उन ढिठाइयोंको तथा अपराधोंको जो उसने बचपनमें श्याम-सुन्दरको सखा और सम्बन्धि समझकर उनके साथ कियेथे क्षमा कराने के तात्पर्य्यसे कहता है—

मू०— सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं,
हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखेति ।
अजनता महिमानं तवेदं,
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि,
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत ! तत्समक्षं,
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

पदच्छेदः— [हे] अच्युत ! (न च्यवते स्वरूपतो यः तत्सम्बोधने हे अच्युत ! हे नित्यस्वरूप ! सर्वदा निर्विकार !) तव (ते) इदम् (दृश्यमानम्) महिमानम् (माहात्म्यम् येन चतुर्दशभुवनानि तवोदरे वर्त्तन्ते) अजानता (अनभिज्ञेन) मया (अर्जुनेन) प्रमादात् (विक्षिप्तचित्ततया अनवधानतया वा) प्रणयेन (प्रणयो नाम स्नेहस्तन्निमित्तो विश्रम्भस्तेन कारणेन) अपि, सखा (मित्रम् । समानवयाः । सहचरः ।) इति, मत्वा, यत्, हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! (मित्र ! सहचर !) इति, प्रसभम् (स्वोत्कर्षाविष्करणपूर्वकम् । हठात्) उक्तम् (अभिभाषितम्) [तथा] विहारशय्यासनभोजनेषु (विहारः क्रीडा । शय्या तूलिकाद्यास्तरणविशेषः । आसनं सिंहासनादि भोजनम् अदनमित्येतेषु) एकः (एकान्ते) अथवा, तत्समक्षम् (तेषां मित्राणां परिहसतां समक्षम्) अपि, अवहासार्थम् (परिहासप्रयोजनाय) यत्, असत्कृतः (तिरस्कृतः) असि, तत्, अहम् अप्रमेयम् (प्रमाणातीतम्) त्वाम्, क्षामये (क्षमयामि) ॥ ४१,४२ ॥

पदार्थः—(अच्युत !) अपने स्वरूपसे नहीं च्युत होनेवाले-हे नित्यस्वरूप अच्युत ! (तव) तुम्हारे (इदम्) इस विश्वरूपके व्यापक (महिमानम) महात्म्यको (अजानता) नहीं जाननेवाले (मया) मुझ अर्जुनसे (प्रमादात्) अनवधानता अथवा चित्त विक्षेपके कारण (वा) अथवा (प्रणयेन) प्रेमके कारण (अपि,) भी (सखा) तुम हमारे मित्र हो (इति मत्वा) ऐसा जानकर जो मैंने (हे कृष्ण) हे कृष्ण ! (हे यादव !) हे यदुवंशी ! (हे सखे !) हे हमारे मित्र ! (इति) इतने वचन (यत्) जो (प्रसभम्) हठात् बडे घमंडके साथ (उक्तम) तुम्हारे विषय मेरे मुंहसे वारम्वार उच्चारण होचुकेहैं तथा (विहारशय्यासनभोजनेषु) नाना प्रकारसे खेल कौतुकके समय, एक शय्यापर लेटनेके समय, एकआसनपर बैठनेके समय और एक संग भोजन के करेने समय जो नानाप्रकारकी मुझसे ढिठाइयां हो चुकी हैं (एकः) अकेलेमें अथवा (तत्समक्षम्) तिन अपने मित्रोंके सामने (अपि) भी (अवहासार्थम्) केवल हंसी ठट्ठाके तात्पर्य्यसे (यत्) जो कुछ (असत्कृतः असि) मेरे द्वारा तुम निरादर किये गये हो (तत्) तिन सब अपनी ढिठाइयों और अपराधोंके लिये (अहम्) मैं (अप्रमेयम) अनन्तस्वरूप (त्वाम) तुमको दोनों कर जोड-कर (क्षामये) क्षमा करनेकी प्रार्थना करता हूं ॥ ४१, ४२ ॥

भावार्थः— अर्जुनको जो भगवानने दिव्यदृष्टि प्रदान करके अपने विश्वरूपका दर्शन कराया सो दर्शन पाते ही अर्जुन भगवत् माहात्म्यको पूर्णप्रकार जानगया । क्योंकि भगवत्‌ने अपने विश्वरूपमें विलग-विलग तीनों गुणोंको दिखलादिया । रजोगुण अर्थात्

अपनी रचनात्मकशक्तिको पूर्णप्रकार प्रत्यक्ष करनेके लिये प्रथम ब्रह्माके स्वरूप का दर्शन कराया जिसका दर्शन पातेही अर्जुन बोल उठा, कि हे भगवन् ! तुम्हारी देहमें " ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम् " (श्लो० १५) जगत्के ईश ब्रह्माको कमलासन अर्थात् पद्मासनमें बैठे हुए देखता हूँ । एवम्प्रकार भगवान्का प्रथम रजोगुण भगवान् का दर्शन करा फिर सत्वगुणका अर्थात् पालनात्मकशक्तिका दर्शन कराते हुए अपने विष्णुरूपका दर्शन कराया जिसे देख अर्जुन बोला, कि हे भगवन् ! मैं तुम्हारे शरीरमें " किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च " (श्लो० १७) किरीट, गदा और चक्रधारी विष्णुको देखरहा हूं । पश्चात् भगवान्के तमोगुण (संहारात्मकशक्ति) अर्थात् विश्वका संहार करनेवाली प्रलय-कालकी भयंकर शक्तिका दर्शन कराते हुए रुद्ररूपका दर्शन कराया तब अर्जुन कांपताहुआ, भयभीत होताहुआ परम व्यथासे व्यथित बोल उठा था कि " दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि " (श्लोक २५) हे भगवन् ! तुम्हारे बडे २ दांतोंसे युक्त भयानक और ज्वलित प्रलयाग्निके समान तुम्हारे ज्योतिर्मय मुखसमूहोंको देखकर मैं ऐसा डरा हूं, कि दिशाओंका भी मुझे इस समय बोध नहीं है ! तथा सम्पूर्ण राजमंडल के सहित ये धृतराष्ट्रके पुत्र गण तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण इत्यादिवीरगण तुम्हारे दांतोंकी संधियोंमें लटके हुए देखपडते हैं अर्थात् इनसे युक्त मैं तुम्हारे रुद्ररूपकोदेखरहा हूं ।

एवम्प्रकार त्रिगुणमय भगवानके विश्वरूपको देखकर अर्जुन परम विस्मयको प्राप्त हुआ और ऐसे महत्वको देख अर्जुनको भगवान्

की पूर्ण महिमाका बोध होगया तब उसे वह समय स्मरण होआया, कि जब वह बचपनमें अपने सखाओंके संग श्यामसुन्दरके साथ नाना प्रकारका विहार करताहुआ खेलता और कूदता फिरता था ऐसा स्मरण होते ही वह बहुत लज्जित हुआ और संकोच खाताहुआ बोला, कि भगवन्! [सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण! हे यादव! हे सखेति] मैंने तुमको अपना सखा समझकर जो बातें बलात्कार उत्कर्षतासे भरीहुई तुमसे कही हों और हे कृष्ण! हे यदुवंशी! हे सखा! इत्यादि वचनोंसे तुमको बारम्बारपुकारा हो। अर्थात् जब तुम कभी किसी अन्य सखाओंके संग बातोंमें लगजाते थे वा उनके संग खेलमें फँस-कर मुझसे विलग हो कहीं दूर चलेजाते थे तो मैं तुमको अपने समीप बुलानेके लिये अहंकारयुक्त ऊँचे स्वरसे पुकार बैठता था, कि अरे ओ कृष्ण! वा ओ यादव! ओ मित्र! इधर आ, सुन तू मेरी बातें सुन! देख तू मेरे संग खेल और देख तो, कि मैं अबकी बार तुझे कैसी हारमें डालता हूं। देख! अब मैं तुझे एक पल्ला भी जीतने नहीं दूंगा। एवम्प्रकार बडी असावधानतासे जो हे भगवन्! मैं तुमको पुकाराकरता था तिसका मुख्य कारण यही था, कि [अजानता महिमानं तवेदम् मया प्रमादात् प्रणयेन वापि] मैं तुम्हारी महिमाको जिसे अब जाना है तिसे तब कुछभी नहीं जानता था। मैं तो ऐसा ही जानता था, कि तुम मेरे भाई हो सखा हो, मित्र हो! और अपने हो। इसी अज्ञानतासे ऐसे चित्तके भ्रमके कारण अथवा प्रेमके कारण जो मुझसे ढिठाइयां होचुकी हैं वे इस समय जब स्मरण

होआती हैं तब चित्तको बडी भारी ग्लानि होती है तथा बहुत शोक होता है, कि हा ! हे भगवन् ! मैंने यह क्या किया ? परन्तु हे नाथ ! यदि तनकभी उस समय तुम्हारे यथार्थस्वरूपका मुझे बोध होता और मैं जानता होता, कि तुम साक्षात् पूर्णब्रह्म जगदीश्वर हो तो उस बचपनमें भी मैं तुम्हारे कमलसदृश कोमल चरणोंकी सेवा करता, नेत्रोंमें लगाता और तुम्हारी नखमणियोंको चूमता। तुमको हे कृपालु ! हे दीन-दुखहरण ! हे अशरणशरण ! हे भक्तवत्सल कहकर पुकारता। दोनों वेला तुम्हारी आरती उतारता ! जूठन भोजन करता ! पर हा हन्त ! क्या करूं। "अब पछताये होत न कछु यह अवसर चूक कठोर" अब तो वह वाल्यावस्था जाती रही वह अपार सुषमा जाती रही। जो-जो सेवाएँ मुझे बचपनमें करनी थी उन सबोंको मैंने नहीं कीं। जैसे किसी के हाथसे मुट्ठीभर मोती, हीरे, लाल गिरजावें ऐसे तुम्हारे बचपनके समयकी सेवा मेरी मुट्ठीसे जाती रही। अब क्या करूं ? प्रभु ! जैसे कोई एक पात्र भरे लाल वा मोतियोंको चिडियोंके उडानेमें जंगलमें फेंकदेवे ऐसे मैंने तुम्हारी समीपताका आनन्द खेलकूदमें गँवा दिया। इतना ही नहीं वरु मैंने समय-समयपरे तुमसे अनुचित कार्य्य भी लिया ! भला देखो तो सही मैंने तुमको वशीठी बनाकर कौरवोंके पास भेजा था। हा ! कैसा अनुचित ? कैसी असावधानता ? यह कितना बडा असीम अपराध है, कि समुद्रमें भी नहीं समासकता।

हे त्रिभुवनपति ! अधिक क्या कहूं ? ये सब प्रमादवश अथवा प्रेमवश जो मैंने तुम्हारे साथ वर्ताव किया और इनसे अतिरिक्त भी

[यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोज-नेषु] जो केवल हँसी ठट्ठेके तात्पर्य्यसे एक संग आसन, अशन और शयन के समय तुम्हारा निरादर कियागया सो [एकोऽथवाप्यच्युत! तत् समक्षं तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम्] हे अच्युत! हे अनन्तस्वरूप! अकेले तथा और सखाओंके संग की हुई इन सब ढिठाइयोंके लिये तुम्हारे समक्ष दोनों हाथ जोडकर क्षमाका प्रार्थी हूं।

अर्जुनका तात्पर्य्य यह है, कि कभी-कभी जो दौडकर मैंने अपनी अँगुलियोंसे हँसनेके लिये तुम्हारी कुक्षिभाग छूकर गुद-गुदी लगायी जिससे तुम भी हँसते-हँसते पृथ्वी पकड बैठ जाते थे और मैं भी अन्य सखाओंके साथ तुम्हारी ओर देख-देखकर हंसता था तथा जो कभी तुम अपने मन्दिरमें बैठे रहते थे तो मैं हँसने हँसानेके तात्पर्य्यसे झट दौडकर पृष्ठभागकी ओर चुपके खडे हो अपने हाथोंसे तुम्हारी आंखें बन्द करलेता था और तुम्हारे इस मधुर वचनपर, कि कौन है ? बोल ! मैं नहीं बोलता था वरु चुप खडा रहता था। एवम्प्रकार कभी—कभी मैं तुम्हारे मोरमुकुट और पीताम्बरको स्नान करते समय चुराकर वृक्षोंपर रख आता था और तुमको उसके ढूंढनेमें व्यग्र करता था। हे अच्युत ! तुम जो कभी अपने स्वरूपसे च्युत होनेवाले नहीं हो नित्य एक रस हो सो मैं तुम्हारे संग अकेले अथवा संगके सहचरोंके साथ जब कभी क्रीडास्थानमें नाना प्रकारसे विहरता हुआ भिन्न--भिन्न क्रीडा-

ओंके करनेमें आनन्दविभोर होजाता था तो मुझको ऐसा भी अहंकार उत्पन्न होआता था, कि कृष्ण मेरा संगी है आज मैं अपने खेलके जीतेहुए पल्लोंकी संख्या अधिक करके कृष्णको एक पांवपर दौडाऊँगा और जब मैं ऐसा ही करता था तब तुम अपने त्रिभुवन-पति होनेकी मर्यादा छोड मेरी आज्ञानुसार मुसकराते और हंसतेहुए एक पांवपर उछलते हुए मेरे पल्लोंको पूर्ण करते थे। हा! हे अच्युत! इस मेरी प्रगल्भताकी ओर विचारो तो सही, कि जब तुम कभी आनन्दित होकर बडे प्रेमसे मेरे गलेमें अपनी भुजा डालकर बातें करते चलते थे तो मैं अनवधानताके कारण तुम्हारी भुजाओंको अपने गलेसे हटादिया करता था फिर जब कभी तुम मेरे संग चौपड खेलते-खेलते मेरी बटिका मारलेते थे तो मैं तुम्हारे पाशाको अपनी चतुराई से झट उलटकर अपनी मारीहुई बटिकाको तुम्हारी कलाई पकडकर झटिति झटक देता था और अपनी बटिका तुम्हारे हाथसे छीन लेता था। हा! हे भगवन्! यह अपराध क्या कभी भूलने योग्य है? फिर जब कभी खेलते-खेलते मैं तुमसे रूठजाया करता था तो थोडी देरतक तुम भी मुझे रूठाहुआ देख मेरे समीप आ मेरा बहुत आदर सम्मान करते थे और चिरकालपर्यन्त मन्द-मन्द मुसकानके साथ अपने पीताम्बरसे मेरा मुख बडे स्नेहके साथ पोंछतेहुए मधुर २ वचनों से मुझे मनाते थे। मानजानेपर हम दोनोंके नेत्र प्रेमके अश्रुओंसे भरजाते थे और परस्पर प्रेमालाप करते थे। हा! मेरी इन प्रगल्भताओंकी कहांतक सीमा होसकती है, कि तुम मुझे मनाओ और मैं एक तुच्छ जीव न मानूं।

कितना कहूं, क्या कहूं और कहांतक कहूं ? हे दीनदयाल प्रणतपाल ! भक्तवत्सल ! एक शय्यापर सोतेसमय जबमेरे पांव तुम्हारे शरीरसे छू जाते थे तो उस समय मुझको तनकभी विचार न होता था कि ये मेरे तुच्छ पांव किसके शरीरसे छूरहे हैं तथा एक संग लेटे२ जब मैं तुमसे यह कहता था, कि रे कृष्ण ! तू वह गीत तो सुना जो तूने वृन्दावनमें गाया था इतना कहनेपर जब तुम गाने लगते थे तों मैं तुम्हारे होठोंको अपने हाथोंसे संपुटितकर कहता था, कि बस चुपरह ! अब मैं सुनचुका । फिर मसनद तकियोंपर एकसाथ बैठते हुए मैं कितनीबार तुम्हारी ओर पीठ फेरकर बैठ जाता था । इन अपराधोंकी कहीं गिनती भी है ? इन अपराधोंका कितना बडा दण्ड होना चाहिये । क्या कहूं भोजनके समय जब एक थालमें बैठकर हम तुम मिष्टान्न भोजन करते थे तो मैं झटककर मिष्टान्नका खण्ड तुम्हारे अधरोंसे निकालकरे आप खाजाता था ।

एवम्प्रकार हे वंशीधर ! हे गिरिधर ! हे क्षमासागर ! हे नटनागर ! मैं अपने अपराधोंकी कहां तक गणना कराऊं । अब तो मेरी यही विनय है, कि " तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् " हे भगवन् तुम अप्रमेय हो अर्थात् तुम्हारी कुछ थाह नहीं है आकाशकी थाह मिलजावे तो मिलजावे पर तुम्हारी कृपालुताका पता लगना बडा कठिन है । अतएव भूलसे, प्रमादसे, अहंकारसे, लडकपनसे जो कुछ भी अपराध मुझसे होचुके हैं उन सबोंको हे क्षमासागर ! मैं तुमसे क्षमा कराना चाहता हूं, अब तुम कृपाकर क्षमा करदो और मुझे बिना मूल्य अपना सेवक जानो ॥ ४१, ४२ ॥

अब अर्जुन अपने अपराधोंकी क्षमाके तात्पर्यसे भगवत्की स्तुति करताहुआ कहता है, कि—

मू०— पितासि लोकस्य चराचरस्य,
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो,
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ! ॥४३॥

पदच्छेदः— [हे] अप्रतिमप्रभाव ! (प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा । न विद्यते प्रतिमा ते यस्य असौ प्रभावो यस्य तस्य सम्बोधने) अस्य, चराचरस्य (स्थावरजंगमस्य) लोकस्य (प्राणिजातस्य) पिता (जनकः) असि [तथा] पूज्यः (पूजयितुं योग्यः) च, गुरुः (गृणाति हितमुपदिशतीति यः) [च] गरीयान् (श्रेष्ठादपि श्रेष्ठः । गुरुतरः) च (त्वम्) लोकत्रये (भूर्भुवःस्वराख्ये लोकत्रये स्वर्गमर्त्यपाताले वा) अन्यः, त्वत्समः (त्वत्तुल्यः) अपि, न, अस्ति, अभ्यधिकः (अधिकपराक्रमः) कुतः (कस्मात् हेतोः) ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(अप्रतिमप्रभाव !) हे अनन्तपराक्रमवाले ! (त्वम्) तुम ही (अस्य चराचरस्य) इस स्थावर जंगममय (लोकस्य) लोकके (पिता) उत्पन्न करनेवाले पिता (असि) हो और (पूज्यः) पूजने योग्य हो (च) फिर (गुरुः) इसके उपदेष्टा भी तुमही हो (च) फिर (गरियान् च) श्रेष्ठोंसे भी श्रेष्ठतर हो

(लोकत्रये) इन तीनों लोकोंमें (अन्यः) दूसरा कोई (त्वत्समः) तुम्हारे समान (अपि) भी (न अस्ति) नहीं है फिर (अभ्यधिकः) तुमसे अधिक (कुतः) कब कौन होसकता है ? ॥ ४३ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन भगवानसे अपने अपराधोंकी क्षमा मांगताहुआ यों कहता है, कि हे भगवन् [पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्] तुम इस स्थावर जंगममय लोकके उत्पन्न करनेवाले 'जनक' पिता हो और इस संपूर्ण विश्वके पूज्य हो ।

यहां ' पिता ' कहनेसे अर्जुनका अभिप्राय यह है, कि तुम पिता हो और हम लोग सब तुम्हारे पुत्र हैं फिर पिताका यह स्वाभाविक धर्म है, कि पुत्रके अपराधोंको क्षमा करता ही है इस कारण तुम भी मेरे अपराधोंको क्षमा करोगे । इतना ही नहीं, कि इस संपूर्ण जगत्का तुमसे केवल पिता पुत्रका ही सम्बन्ध है । नहीं ! नहीं ! तुम तो इस संपूर्ण विश्वके पूजनीय हो अर्थात एक छोटी पिपीलिकासे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सब तुम्हारी पूजा करते हैं और सब तुमको बारंबार सीस नवाते हैं । तुम ईश्वर हो, देवोंके भी देव हो इसलिये महेश्वर हो । सबके स्वामी और प्रभु हो इसकारण तुमसे चराचरको स्वामी सेवकका भी सम्बन्ध है और स्वामीका स्वाभाविक धर्म्म है, कि भृत्यके अपराधोंको क्षमा करदेता है इस कारणसे भी तुम अवश्य मेरे अपराधोंको क्षमा करोहीगे । यदि ऐसा कहो, कि ब्रह्मादि देव तथा वेदादि भी तो संसारके उपदेश करनेवाले गुरु हैं सो सच है पर तुमतो 'गुरुर्गरीयान् ' गुरुओंके भी गुरु हो

इसलिये यदि अन्य कोई गुरु अपने शिष्यको भी कभी दण्ड करे तो करले पर तुम तो कभी दण्ड कर ही नहीं सकते। सदा शिष्योंके अपराधोंको क्षमा करना तुम्हारा सनातन धर्म्म है। इस कारण तुम मेरे अपराधोंको अवश्य क्षमा करोगे।

यदि ऐसा कहो, कि दूसरे देव भी तो क्षमा करनेवाले हैं और मेरे समान प्रभावशाली हैं वा मुझसे अधिक हैं उनसे क्षमा कराले तो ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि एक तो मैंने अन्य किसी देव देवीका कुछ अपराध किया ही नहीं जो उनसे क्षमा कराऊं अपराध तो तुम्हारा ही किया है फिर उस अपराधका निस्तार तुमको छोड और कौन करेगा ?।

दूसरी वात यह है, कि स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनों लोकोंमें तुम्हारे समान कोई दूसरा है भी नहीं। तुमसे अधिक होना तो कब होसकता है? क्योंकि तुम तो अलौकिकप्रभाव वाले हो, परमपूजनीय हो, अतुलपराक्रमवाले हो अनन्त ऐश्वर्य्यवाले हो और अद्वितीय हो। [न त्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतोन्यो लोकत्रयेप्यप्रतिमप्रभाव] जब तुम्हारे समान ही कोई नहीं है तो तुमसे अधिक शक्ति वाला दूसरा ईश्वर कहांसे आवे इसीलिये तो हे भगवन् तुम तीनों लोकोंमें अनन्त प्रभाव वाले कहे जाते हो। प्रमाण वेद " ॐ न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः " (यजुर्वेद अ० ३२ मं० ३) अर्थ- उस महाप्रभुकी प्रतिमा अर्थात् उसके समान प्रभाववाला कहीं कोई नहीं है जिसके नामका महायश इस संसारमें फैला हुआ है।

फिर जब ऐसा सिद्ध होगया; कि तुम्हारे समान कोई भी नहीं है तो तुम ही अवश्य मेरे अपराधोंको क्षमा करोगे ॥ ४३ ॥

इसी कारण हे भगवन् !

मू— तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायम्,
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः,
प्रियः *प्रियायार्हसि देव! सोढुम् ॥ ४४ ॥

पदच्छेदः— देव ! (नरनारायणात्मकक्रीडाभिधानेन लोकानां बुध्यावरणसमर्थ !) तस्मात् (पूर्वोक्तकारणात्) अहम् (अपराधी अर्जुनः) कायम् (शरीरम्) प्रणिधाय (दण्डवत् भूमौ निपत्य) प्रणम्य (नमस्कृत्य) ईड्यम् (स्तोतुं योग्यम्) त्वाम् ईशम् (ईशितारम् । सर्वनियन्तारम् । जगतः स्वामिनम्) प्रसादये (प्रसन्नं करोमि) [अतः] पुत्रस्य (निजबालकस्य) पिता (जनकः) इव (सदृशः) सख्युः (मित्रस्य) सखा (निरुपाधिबन्धुः) इव (सदृशः) प्रियायाः (पतिव्रतायाः भार्य्यायाः) प्रियः (भर्त्ता) [इव] सोढुम् (क्षन्तुम्) अर्हसि (योग्योऽसि) ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(देव !) हे क्रीडा करके लोकोंकी बुद्धि पर आवरण डालने वाले (तस्मात्) पूर्व वर्णन किए हुए कारणोंसे (अहम्) मैं (कायम्) अपने शरीरको (प्रणिधाय) दण्डके समान तुम्हारे आगे गिराकर (प्रणम्य) प्रणाम करके (ईड्यम्)

* यहां छान्दसप्तन्धि है तथा आर्षसन्धि है।

स्तुति किये जाने योग्य (त्वाम ईशम्) तुम ईश्वरको (प्रसादये) प्रसन्न करता हूं । तुम तो (पुत्रस्य) पुत्रके लिये (पिता इव) पिताके समान (सख्युः) सखाके लिए (सखा इव) सखाके समान तथा (प्रियायाः) पतिव्रता स्त्रीके लिए (प्रियः) उसके भर्त्ता के समान हो सो तुम मेरे (सोढुम) अपराधोंको सहने और क्षमा करनेके (अर्हसि) योग्य हो । ॥ ४४ ॥

भावार्थः—अब अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! तुम अवश्य मेरे अपराधोंको क्षमा करने योग्य हो इसी कारण [**तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायम् प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्**] मैं अपने इस शरीरको दण्डके समान तुम्हारे आगे गिराकर प्रणाम करके अर्थात् साष्टांग दण्डवत् करके हे ईश ! हे स्तुति किये जाने योग्य ! अनेक ब्रह्माण्डोंके प्रभु ? तुमको प्रसन्न करता हूं । क्योंकि जबतक किसीका स्वामी किसी अपने सेवकपर प्रसन्न न हो तबतक उसके अपराधोंको क्षमा नहीं करता । इसी कारण मैं साष्टांगकर प्रथम तुमको प्रसन्न कर लेता हूं ।

यदि यह कहो, कि केवल एकबार दण्डवत् नमन करनेसे तू मुझे ठगोंके ऐसा ठगना चाहता है तो हे भगवन् ! ऐसा न समझो ठग तो केवल अपना काम निकाल लेनेके कारण थोडी देरके लिये झूठमूठ बाहरके दिखावे के लिये दण्डवत् प्रणाम करता है यथार्थ-हृदयसे दण्डवत् प्रणाम नहीं करता सो हे भगवन् ! ऐसा ठग मुझे मत समझो । तुम तो सबके हृदयके और अन्तःकरणकी गतिके जानने

वाले हो। सहस्रों योजन समुद्रके नीचे जो एक छोटीसी रेणुकाहै उसे भी तुम जाननेवाले हो तो क्या तुम मेरे हृदयकी गति नहीं जानते ? अवश्य जानते हो। फिर तो मैं यही कहूंगा, कि यदि यह तुम्हारा अर्जुन सच्चे भावसे नम्रतापूर्वक अन्तःकरणसे अपने अपराधोंकी क्षमा मांगता हो तब तो तुम मेरे सर्वप्रकारके अपराधोंको जो बचपनसे आजतक मुझ से होचुके हैं क्षमा करदो। यदि यह कहो, कि एक ओर तो तू क्षमा मांगरहा है और दूसरी ओर अपने स्वार्थ-वश मुझे सारथी बनाए हुए है। क्या इसे मैं तेरी धूर्ततामें गणना नहीं करूंगा ? कि अपना कार्य्य निकालनेके लिये धूर्तताबश अपराध भी करता चलाजावे और क्षमाभी मांगता चलाजावे। सो हे प्रभो ! ऐसा न समझो वरु तुमतो स्वयम् अपने मुखसे अभी कहचुके हो, कि कालोऽस्मि लोकक्षायकृत प्रवृद्धः, निमित्तमात्रं भव सव्य-साचिन्" तक (श्लो ३२, ३३,) मैं कालस्वरूप हूं लोकोंके नाश करनेमें इस समय तत्पर हूं। तुझको एक निमित्तमात्र बनाकर इस रथपरे लाया हूं मैंही सबको मारडालूंगा तू केवल निमित्तमात्र होजा। इन तुम्हारेही वचनोंसे स्पष्ट होताहै, कि मैंने तुमको धूर्तताकरके सारेथी नहीं बनाया वरु तुम ही मुझको निमित्तमात्र करके रथी (योद्धा) बना लाये हो। सो हे भगवन ! मैं क्या कहूं ? मैं तो फिर भी यही कहूंगा, कि [पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव ! सोढुम्] जैसे पिता पुत्रके अपराधको, मित्र मित्रके अपराधको और स्वामी अपनी पतिव्रता स्त्रीके अपराधको सहन करलेता हैफिर क्षमा करदेताहै इसीप्रकार हे भगवन् ! तुम मेरे अपराधको जिस भातेसे चाहो क्षमा

करदो । क्योंकि सांसारिक पिता, मित्र वा भर्ता कहनेमात्र हैं इनको केवल दैहिक सम्बन्ध है । न जाने इस जीवके कितने जन्म होचुके और जहां जहां जिस योनिमें यह जीव गया तहां-तहां तिस२ योनिमें एक-एक पिता भ्राता, भर्ता, मित्र मिलते चलेगये अगले पिता, मित्र इत्यादिसे सम्बन्ध होतागया और पिछलेसे छूटता गया। इस प्रकार एक जीवके सहस्र प्राकृत पिता, भ्राता, सखा इत्यादि होगये पर तुम तो सदा एकरस और नित्य होनेके कारण जहां यह गया तहां तुमसे तो नित्यका सम्बन्ध बनारहा । इस कारण तुम तो सदासे इस जीवके पिता, माता, सखा इत्यादि बनेहुए हो।

यहां देव शब्द कहकर जो अर्जुनने भगवानको पुकारा है इस का मुख्य तात्पर्य यह है, कि दिवुक्रीडने धातुसे देव बना है अर्थात् नाना प्रकारकी क्रीडा करनेवालेको देव कहते हैं । सो अर्जुन कहता है, कि हे भगवन्! तुम तो सदा क्रीडा करनेवाले हो सो बचपनमें भी तुम ही ने नाना प्रकार मेरे साथ क्रीडा की सो अब कालस्वरूप होकर मेरे साथ रथवान बनकर क्रीडा कररहे हो इसलिये तुम स्वयं विचार कर अपनेको सब खेलोंका खिलाडी जानकर मेरे अपराधोंको क्षमा करो ॥ ४४ ॥

अब अर्जुन अपने अपराधोंको क्षमा करवाताहुआ अगले दो श्लोकोंमें भगवान् को अपने पूर्वस्वरूपके दर्शन करानेकी प्रार्थना करता है—

मू—०— अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा,
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव! रूपम्,
प्रसीद देवेश! जगन्निवास! ॥ ४५ ॥

पदच्छेदः— अदृष्टपूर्वम् (मया अन्यैर्वा न दृष्टपूर्वम्) दृष्ट्वा (अवलोक्य) हृषितः (उत्फुल्लः) अस्मि, भयेन (रौद्रशक्त्या जनितेन चित्तवैक्लव्यदेन त्रासेन) मे, मनः, प्रव्यथितम् (दुःखितम् जातम्) च [हे] देव ! (स्वयंप्रकाश !) [हे] देवेश ! (देवनियन्तः महेश्वर !) मे (मह्यम्) तत (पूर्वदृष्टम्) रूपम् (प्राचीनं मम प्राणापेक्षयापि प्रियं रूपम् धारणाविषयभूतम् । किरीटविभूषितम्) एव (निश्चयेन) दर्शय (नेत्रगोचरं कारय) [हे] जगन्निवास ! (विश्वाधार !) प्रसीद (प्रसन्नो भव) ॥ ४५ ॥

पदार्थः— (अदृष्टपूर्वम्) मुझसे तथा अन्य किसीसे जो पहले नहीं देखागया ऐसे तुम्हारे विश्वरूपको (दृष्ट्वा) देखकर (हृषितोऽस्मि) मैं परम हर्षको प्राप्त हुआ हूं तथा (भयेन) तुम्हारे रुद्रस्वरूपको देखकर त्राससे (मे मनः) मेरा अन्तःकरण (प्रव्यथितं च) परम व्याकुलताको भी प्राप्त होरहा है इसलिये (देव !) हे स्वयंप्रकाशस्वरूप (देवेश !) हे सर्वदेवोंके ईश महेश्वर ! (जगन्निवास!) हे सम्पूर्ण विश्वके आधार! (प्रसीद) प्रसन्न हो और (मे) मेरी प्राणरक्षाके निमित्त (तत् रूपम्)

वह पहला सुन्दर स्वरूप (एव) निश्चय करके (दर्शय) दिखलाओ ॥ ४५ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन भगवानके विश्वरूपको देखते-देखते सन्तुष्ट होगया । इसलिये भगवत्की स्तुति करता हुआ पूर्वका जो परम प्रिय वासुदेव स्वरूपके देखनेकी इच्छा से कहता है, कि [अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे] हे भगवन् ! जिस स्वरूपको न तो मैंने और न किसी दूसरे देव, दनुज, मनुज, किन्नर, गन्धर्वादिने कभी भी देखा ऐसे तुम्हारे स्वरूपको देखकर मैं बहुत हर्षको प्राप्त हुआ हूं फिर उसी तुम्हारे स्वरूपको देखकर मेरा अन्तःकरण परम व्याकुलताको प्राप्त हो दुखी होरहा है ।

मुख्य अभिप्राय कहनेका यह है, कि अर्जुनके अन्तःकरणके सम्मुख जो भगवत्की विश्वमूर्त्ति आयी है अर्थात् विश्वरूप ने उसके अन्तःकरणपर जो आवरण डाला है सो विश्वरूप बहुरंगा है इसलिये इस समय अर्जुनके अन्तःकरणपर क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों प्रकारकी वृत्तियोंका छाप पड़रहा है । अतएव हर्ष और व्यथा दोनों वृत्तियोंका एकबार स्फुरण होना संभव है । यह गुण केवल उस सच्चिदानन्दहीमें है, कि दो विरुद्ध धर्म एकसंग कार्य्य करते हैं उस महाप्रभुको छोड ऐसा अन्य कोई देव देवी नहीं है जिसमें दो विरुद्ध धर्म एकबार एकही समय पाये जावें ।

इसी कारण अर्जुनने " हृषितोस्मि " और " प्रव्यथितं मनो मे " कहा अर्थात् मैं हर्षित होरहा हूं और मेरा मन दुखी भी होरहा है । ये दोनों बातें कहना उचित है ।

दूसरी बात यह है, कि आजतक भगवत्‌ने ऐसी कृपा किसीपर नहीं की केवल अर्जुन ही पर की है जो अपना विश्वरूप दिखला-दिया है इसी कारण भगवत्‌को अपने ऊपर कृपायुक्त जानकर अर्जुन हर्षको प्राप्त होरहा है ।

अतः प्रार्थना करता है, कि [**तदेव मे दर्शय देव ! रूपम् प्रसीद देवेश ! जगन्निवास !**] हे स्वयं प्रकाशस्वरूप ! मेरे स्वामी कृपाकर अब मुझको वही पहिला स्वरूप दिखलाओ और हे जगदाधार ! मुझपर प्रसन्न होवो । अर्थात् जिस स्वरूपको मैं बचपनसे आजतक देखता चला आरहा हूं, जिस स्वरूपमें मेरी परम प्रीति है, जिस स्वरूपको मैंने अपनी धारणा योग्य समझा वही मंजुलमूर्त्ति, वही मनोहर मूर्त्ति, वही विनोदविकसित मधुरमुख श्रीसारथीरूपमें सुशोभित अश्वोंकी बागडोरको हाथोंमें लिये हुए जो तुमने दर्शन दिया था हे भगवन् ! वैसाही सौन्दर्य्यमय और आनन्दमय रूप मुझे पुनः दिखलाओ ॥ ४५ ॥

अब किस स्वरूपको अर्जुन देखना चाहता है ? सो अगले श्लोक में स्पष्ट कर कहता है—

मू०— किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामित्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन,
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ! ॥ ४६ ॥

पदच्छेदः— [हे] सहस्रबाहो ! अहम्, त्वाम् (विश्वरूपम्) तथा, एव (यथापूर्वमेव) किरीटिनम् (किरीटवन्तम्) गदिनम् (गदावन्तम्) चक्रहस्तम् (सुदर्शनं हस्ते यस्य तादृशम्) द्रष्टुम् (अवलोकयितुम्) इच्छामि [तस्मात् हे] विश्वमूर्त्ते, तेन (किरीटादिसहितेन) चतुर्भुजेन (चतुर्वाहुयुक्तेन) रूपेण (स्वरूपेण) एव, भव ॥ ४६ ॥

पदार्थः— (सहस्रबाहो) हे अनन्त भुजावाले महाप्रभु ! (अहम्) मैंने (त्वाम्) तुमको (तथा एव) जिस प्रकार पहले देखा है वैसे ही (किरीटिनम्) किरीटको धारण कियेहुए, (गदिनम्) एक हाथमें गदा धारण किये हुए तथा (चक्रहस्तम्) दूसरे हाथमें सुदर्शनचक्र धारण कियेहुए (द्रष्टुम्) देखनेकी (इच्छामि) इच्छा कर रहा हूँ इसलिये (विश्वमूर्त्ते) हे विश्वरूप ! (तेन चतुर्भुजेन) उसी चार भुजावाले (रूपेण) स्वरूपसे (एव) निश्चय करके (भव) प्रकट होजाओ ॥ ४६ ॥

भावार्थः— अर्जुन किस स्वरूपको दिखलानेकी प्रार्थना कररहा है ? सो कहता है, कि [किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव] हे भगवन् ! अब मैं किरीट, शङ्ख

चक्र, गदा धारण किये हुए तुम्हारे चतुर्भुजी रूपको देखना चाहता हूं अतएव [तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो ! भव विश्वमूर्त्ते !] हे सहस्रों भुजावाले अर्थात् अनन्त भुजाओंके धारण करने वाले विश्वरूप ! अब तुम मुझपर कृपाकरके उसी चारभुजावाले स्वरूपसे मेरे समीप प्रकट होजाओ।

शंका— अर्जुनने भगवान्का स्वरूप सदा दो भुजायुक्त देखा है अब चारभुजावाला क्यों कहरहा है ? चार भुजावाला स्वरूप तो अर्जुनने कभी भी नहीं देखा फिर ऐसा क्यों कहा ?

समाधान—इसमें सन्देह नहीं, कि अर्जुनने जो दो भुजावाले कृष्ण स्वरूपको देखा था उसमें तो उसका सखाभाव था ईश्वरभाव नहीं था इसलिये इस समय उसको दो भुजावाली मूर्त्तिके देखनेकी इच्छा नहीं वह तो भगवान्की भयंकर मूर्त्तिसे घबराकर अब उनकी सौम्यमूर्त्तिको देखा चाहता है जिसे उसने पहले कईबार ध्यानमें देखा है कबकब देखा है ? सो सुनो सर्वोपर विदित है कि अर्जुन परम पवित्र क्षत्रियवंशमें कमलके सदृश उत्पन्न हुआ था जिसने क्षात्र धर्म्मका पूर्णप्रकार पालन कररखा था संध्यादि कर्मोंके पश्चात् उपासनाके समय वह भगवत्की चतुर्भुजी मूर्त्तिका ध्यान किया करता था और भगवान् समय समय पर कृपा करके उसके हृदयकमलमें अपनी चतुर्भुजी मूर्त्ति दिखला-दिया करते थे इस कारण अर्जुनकी धारणा सदा चारभुजावाली विष्णु मूर्त्तिमें ही बनी रही। अतएव अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! कृपा करके उसी चतुर्भुजी मूर्त्तिका दर्शन कराओ जिसे मैं संध्याके समय

उपासना करते हुए देखा करता था। क्योंकि विराट्मूर्तिके दर्शन से अब अर्जुन उनको जगदीश्वर जानरहा है। दो भुजा वालेमें तो उसे ईश्वरकी बुद्धि थी ही नहीं। वह तो अपना फुफेरा भाई वा सखा जानता था और वैसा ही वर्ताव भी रखता था जैसा, कि (श्लोक ४१-४२) में कहआये हैं और केवल संध्याके समय कभी २ चतुर्भुजी मूर्तिको देखा करता था। इसलिये उसी माधुर्यमय चतुर्भुज स्वरूप के दर्शन करानेकी प्रार्थना करता है। शंका मत करो।

अभिप्राय यह है, कि भगवान् तो अणोरणीयान् महतो महीयान् है अर्थात् जब चाहे छोटेसे छोटा परम लघु बन जावे और जब चाहे बडेसेबडा परम विशाल बनजावे। सो भगवान्नेजो इस समय जो अर्जुनको दिव्यदृष्टि प्रदान कर 'महतो महीयान्' बडेसे बडा रूप दिखलाया है सो जैसे २ भगवान् उस दिव्यदृष्टिको आकर्षण करते चले जाते हैं वैसे वैसे अपनी मूर्तिको छोटी करते चलेजातेहैं। अर्थात विराट्से चतुर्भुज और चतुर्भुजसे द्विभुज बनते चले जाते हैं। और अर्जुनका भय हर्षसे बदलता चला जाता है और भगवान्की दयालुता देख अपनेको कृतकृत्य समझ रहा है।

प्रिय पाठको! तुम भी अर्जुनके समान बननेकी चेष्टा करो जिस से भगवान् तुमपर वही दृष्टि करें जो अर्जुनपरे की है। क्योंकि भगवान् समदर्शी सबोंका प्रिय है सब उसमें हैं और सबमें वही है। अर्थात सबका वह हैं सब उसके हैं और किसीने कहा है "मैं तो दो बोल कहके हारा हूं। तुम हमारे हो मैं तुम्हारा हूँ"॥ ४६ ॥

अब भगवान् अर्जुनकी प्रार्थना दयापूर्वक स्वीकार कर अपने विश्वरूपको अन्तर्धानकर परमस्नेह भरे हुए मधुर वचनोंसे अर्जुन के प्रति कहते हैं–

श्रीभगवानुवाच ।

मू०— मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं,
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं,
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

पदच्छेदः—[हे] अर्जुन ! प्रसन्नेन (प्रसादाभिमुखेन, कृपातिशयवता) मया, आत्मयोगात् (योगमायासामर्थ्यात्) तव (तुभ्यम् यत्, मे, इदम् (विश्वरूपात्मकम्) परम (श्रेष्ठम्) तेजोमयम् (प्रकाशबहुलम् । तेजःप्रचुरम् । सर्वप्रकाशकम्) विश्वम् (विश्वात्मकम्) अनन्तम् (अपरिच्छिन्नम् । अन्तरहितम्) आद्यम् (सर्वादौ भवम्) रूपम्, दर्शितम्, [तत् रूपम्] त्वदन्येन (त्वत्तः अन्यः तेन ब्रह्मादिनापि) न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७॥

पदार्थः— (श्रीभगवानुवाच) श्रीसच्चिदानन्द आनन्द कन्द बोले, कि (अर्जुन !) हे अर्जुन ! (प्रसन्नेन) बड़ी प्रसन्नतासे (मया) मेरे द्वारा (आत्मयोगात्) मेरी योगमायाकी शक्तिसे (तव) तेरे लिये (यन्मे) जो मेरा (इदम्) यह (परम्) अत्यन्त श्रेष्ठ (तेजोमयम्) परम प्रकाशसे भरा हुआ दिव्य (विश्वम्) विश्वा-

त्मक विराट्स्वरूप (अनन्तम्) अन्तरहित (आद्यम्) सबोंसे आदि (रूपम्) स्वरूप (दर्शितम्) दिखलाया गया है सो कैसा है, कि (त्वदन्येन) तुझे छोड़ अन्य किसीसे (न दृष्टपूर्वम्) पहले न देखा गया अर्थात् सार्वभौम विश्वरूप मैंने आजतक तुझे छोड अन्य किसी भी भक्तको नहीं दिखलाया ॥ ४७ ॥

भावार्थः—(श्रीभगवानुवाच) अर्जुनकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर अर्जुनको सन्तोषदेते हुए भगवान् बोले, कि हे अर्जुन तू मेरे इस उग्ररूपके देखनेसे जो भयभीत होगया है सो तू भयको त्यागकर। अब मैं तुझको अपनी मधुरमूर्ति दिखलाऊंगा। क्योंकि [**मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्**] हे अर्जुन! मैं तुझपर अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूं तेरी शक्ति और तेरे शुद्ध अन्तःकरणको देखकर मेरी पूर्ण कृपा तुझपर हुई है ऐसा निश्चय जान! इसी कारण मैंने अपनी योगमायाकी महान् शक्तिको अंगीकार कर अर्थात् जिस अपनी सामर्थ्यसे मैं इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी रचना तथा पालन और संहार बार-बार करता रहा हूं, कर रहाहूं और आगे भी करता रहूंगा उसे स्वीकार कर केवल तुझपर अनुग्रह करनेके तात्पर्यसे ही मैंने तुझको अपना यह रूप दिखलाया है मैं तो स्वयं जानता था, कि तू इस लौकिक चक्षुसे मेरे इस स्वरूपका तेज नहीं संभाल सकेगा देखते ही तेरी दोनों लौकिक आंखें फूट जावेंगी इस कारण मैंने तुझपर प्रसन्न होकर तुझे अपना स्वरूप देखनेके लिये दिव्य नेत्र प्रदान करे दिया। भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे कोई

शक्तिमान योगी अपने बालकके खेलनेके लिये चन्द्रमाका गेंद बनाकर देदेवे, उसके पीनेके लिये घरमें अमृत का कुण्ड तयार करदेवे और दूध पीनेके लिये कामधेनु लाकर द्वारपर बांधदेवे इसी प्रकार भगवानने अर्जुनपर प्रसन्न होकर अपने अलौकिक योगबलसे विराट्स्वरूपका दर्शन कराया। जिसे देखकर वह भगवत् के यथार्थस्वरूपका ज्ञाता होगया। इसी कारण भगवान कहते हैं, कि सो मेरा स्वरूप कैसा है, कि [तेजोमयं विश्वमनन्त-माद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्] तेजसे मय है अर्थात् परमप्रकाशस्वरूप है दिव्य है। जिस तेज के सम्मुख करोडों सूर्योंकी ज्योति मलिन होजाती है और यदि ब्रह्मा भी उसे देखे तो उसकी आंखोंमें चकाचौंध लगजावे अन्य देवोंकी तो गिनती ही क्या है? फिर वह मेरा स्वरूप कैसा है, कि 'विश्वम्' विश्वात्मक है अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें जितने जड चेतन, चर, अचर, स्थूल सूक्ष्म पदार्थ हैं सो सब मुझमें देखपडते हैं इसी कारण मेरा स्वरूप विराट् कहाजाता है।

अर्जुनने जो रूप देखे हैं सो भगवानकी विराट्मूर्ति अर्थात विश्वात्मक मूर्त्ति है। विश्वात्मकमूर्ति किसे कहते हैं? वर्णन कियाजाता है—

"स्थूलमूर्तिर्विराट् चतुर्दशलोकात्मकस्तस्य ब्रह्माण्डकर्पर-पर्यन्तस्याकाशः शिरः, चन्द्रसूर्यौ नेत्रे प्रागादि दिशः श्रोत्रे,

टि०—यह मूर्ति विश्वात्मक है जिसमें सब पदार्थ शोभित होते हैं "राजन्ते विविधानि वस्तूनि यस्मिन्निति विराट्" जिसमें विविध प्रकारकी वस्तु शोभायमान हों उसे विराट् कहते हैं]

अन्तरिक्षलोको घ्राणम्, मेरुः पृष्ठवंशः, शिखरत्रयं भुजकण्ठाः, प्रत्यन्तपर्वताः पृष्ठपार्श्ववक्षांसि, उपपर्वताः शालमल्यादीनि,समुद्राः रक्तं, लताः स्नायूनि, तृणवृक्षाः रोमाणि, भूमिः कुक्षिः, द्वीपवलयः भूरेखा रोमराजिः, भूमध्यप्रदेशो वस्तिः, शेषः शिश्नम् दिग्दन्तिपंक्तिर्नितम्बोरुभागः । अतलादिसप्तक कटिपादान्तरालः कूर्मः पादौ इति" (शंकरविजय प्रकरण ६)

अर्थ—चौदहों लोकोंके समूहात्मक मूर्तिको विराट्मूर्ति कहतेहैं। ब्रह्मोत्पत्ति स्थान तक उसका ब्रह्माण्डहै आकाश शिर है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, पूर्वादि दिशाएं कान हैं, अन्तरिक्षलोक नासिकाहै, सुमेरु पर्वत पृष्ठवंश है, तीनों शिखर भुजा और कंठ हैं, छोटे पर्वत पीठ, पार्श्व और वक्षस्थलहै समुद्र रक्त है और लताएं नस हैं, तृण और वृक्ष रोम हैं, पृथ्वी कुक्षि हैं, द्वीप कलाई हैं, भूरेखा उदरोपरि रोमपंक्ति हैं, पृथ्वीका मध्यप्रदेश वस्ति है, शेष शिश्न है, दिग्गज नितम्ब और उरु हैं, अतलादि सात नीचेके लोक कमर तथा पादत्राण है कूर्म पाद हैं यह विराट्स्वरूपका वर्णन है।

इसी प्रकारकी मूर्तिको विराट् कहते हैं सो भगवानने अर्जुनको यह विराट्मूर्ति दिखलायी है। यहां ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि भगवानने केवल इतनी ही दिखलायी नहीं! नहीं! इतनी विराट्मूर्ति तो अन्य कितने भक्तोंको समय-समयपर दिखलायी है पर यहां जो अर्जुनको दिखलायी है वह इससे भी विलक्षण और विचित्रमूर्ति है। इसी कारण भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन ! यह रूप जो तुमने देखा है वह अनन्त है और सर्बोंका आदिकारण है जिसका

कहीं अन्त नहीं है और जो सबोंसे आदि होनेके कारण किसीके द्वारा देखा नहीं गया इसलिये यह मेरी मूर्ति अदृष्टपूर्व है अर्थात् तुझसे पहले ऐसा रूप किसीने देखा ही नहीं।

शंका— भगवान्ने इस रूपको अदृष्टपूर्व क्यों कहा ? और ऐसा क्यों कहा ? कि तेरेको छोड अन्य किसीने ऐसा रूप नहीं देखा भगवान्ने तो यशोदाको मिट्टी खातेहुए, कौशल्याको पक्वान्न भोग लगातेहुए और काकभुशुण्डको कौशल्याके आंगनमें खेलतेहुए यही विराट्मूर्ति दिखलायी थी। फिर अदृष्टपूर्व कहनेसे क्या लाभ ?

समाधान— भगवान्ने जो यशोदा तथा काकभुशुण्ड इत्यादि को अपने मुखमें विराट्स्वरूपका दर्शन कराया था उस रूपमें केवल सत्व और रजोमयी विराट्मूर्तिका दर्शन कराया था पर भयंकर रौद्र- मूर्ति जो तमोगुणप्रधान है उसे नहीं दिखलाया था। क्योंकि यशोदा वा कौशल्या स्त्रियां थीं जिस मूर्तिके देखनेसे अर्जुन ऐसा वीर व्याकुल होकर प्राणके भयसे थर्रारहा है उस भयंकर मूर्तिको यदि वे स्त्रियां देखतीं तो घबराकर प्राण ही छोडदेतीं इसी कारण उन लोगोंको सामान्य विश्वमूर्तिका दर्शन कराया। अपनी उग्रमूर्त्ति अर्थात् संहार करनेवाले तेजको गुप्त ही रक्खा। इसी प्रकार काकभुशुण्डको भी पक्षी जानकर अपनी उग्रताको गुप्तही रक्खा पर अर्जुनको तो दिव्यदृष्टि प्रदान करनेके कारण अपना भयंकर रूप भी दिखलादिया कुछभी शेष नहीं रखा और यहां उस संहार करनेवाली महा विकराल मूर्त्तिके दिखलानेकी नितान्त आवश्य- कता भी थी जिससे अर्जुनको यह बोध होगया, कि भगवान्ने महाभारत

के सब योद्धाओंको पहलेहीसे चबेना कररखाहै मैंतो केवल एक निमित्तमात्र हूं । इसी तात्पर्यसे भगवान्ने महा कालस्वरूपका भी दर्शन कराया । दूसरे भक्तोंको इस कालरूपके दर्शन करानेकी आवश्यकता ही नहीं थी इस लिये भगवान्ने अपनी इस मूर्तिको अदृष्टपूर्व कहा । शंका मत करो ॥४७॥

भगवान्ने अपनी असीमकृपासे जो विराट् मूर्त्ति अर्जुनको दिखलायी उस मूर्त्तिका दर्शन अनेक जन्मोंके तप किये हुए और अनेक साधन करनेवाले योगियोंको भी दुर्लभ है इसी वार्त्ताको अगले श्लोकमें स्पष्टकर दिखलाते हैं—

मू०— न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः ×शक्य अहं नृलोके,
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ! ॥ ४८ ॥

पदच्छेदः— [हे] कुरुप्रवीर ! (कुरुकुलोत्पन्नवीराणां शिरोमणे !) नृलोके (मनुष्यलोके) एवंरूपः, अहम्, न त्वदन्येन (त्वद्भिन्नेन केनचिदपि पुरुषेण) वेदयज्ञाध्ययनैः (चतुर्णां वेदानामध्ययनैः पठनैः तथा यज्ञस्य यज्ञविज्ञानस्य मीमांसाकल्पसूत्रादेरध्ययनैः । अथवा वेदबोधितकर्मणामध्ययनैः) द्रष्टुम् (अवलोकयितुम्) न, शक्यः (समर्थः) दानैः (सत्पात्रे धनार्पणैः) न, क्रियाभिः (स्मृत्युक्ताभिः पूर्त्तादिभिः वापीकूपारा-

× शक्य अहमित्यत्र विसर्गलोपश्छान्दसः ।

मादिभिः । अग्निहोत्रादिश्रौतकर्मभिर्वा) च, (तथा) न, उग्रैः (कायेन्द्रियशोषकत्वेन दुष्करैः) तपोभिः (कृच्छ्रचान्द्रायणमासोपवासमौनादिभिः) [द्रष्टुम् न शक्यः] ॥ ४८ ॥

पदार्थः—(कुरुप्रवीर !) कुरुकुलके वीरोंमें शिरोमणि हे अर्जुन ! (नृलोके) इस मनुष्यलोकमें (एवंरूपः) इस प्रकारका रूपवाला (अहम्) में आजतक (त्वदन्येन) तुझको छोड किसी दूसरेसे (वेदयज्ञाध्ययनैः) वेदोंके पठन तथा यज्ञोंके जाननेपरभी तथा मीमांसा वा कल्पसूत्रादिके अध्ययन करनेपर भी (द्रष्टुम्) देखेजानेको (न शक्यः) समर्थ न हुआ अर्थात नहीं दिखला सका । फिर (दानैर्न) सत्पात्रोंको धनादि दान देनेसे भी नहीं (क्रियाभिः च न) स्मृत्युक्त इष्ट, पूर्त्त दत्तादि अथवा श्रुत्युक्त अग्निहोत्रादि क्रियाओंके करनेसे भी नहीं तथा (उग्रैः) अति प्रबल (तपोभिर्न) तपस्याओंसे भी मैं ऐसा प्रसन्न नहीं हुआ, कि ऐसा रूप दिखलाऊं । अर्थात् ब्रह्मादि यज्ञोंके साधनोंसे, तपश्चर्य्याओंसे तथा दानादि क्रियाओंके सम्पादन करनेसे भी मुझे कोई इस प्रकार प्रसन्न न करसका, कि मैं किसीको ऐसा रूप दिखलासकूं ॥ ४८ ॥

भावार्थः— अर्जुनको छोड कोई भी दूसरा भगवान्के ऐसे विश्वरूपके दर्शनसे कृतकृत्य नहीं हुआ इस बातको स्पष्ट करते हुए भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न चक्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः**] कोई चारों वेदोंको उनके अंगोंसहित

अध्ययन कर जावे तो करजावे, यज्ञविद्याके जाननेके निमित्त मीमांसा-शास्त्रको विधिपूर्वक पूर्णप्रकार अक्षर२ पढजावे तो पढजावे, कल्प और सूत्रों का मनन कर जावे तो करजावे, गो, महिषी, हिरण्य, अन्न, वस्त्र, द्रव्य इत्यादिके दानदेनेमें पूर्ण समर्थ होजावे तो होजावे, नाना प्रकारकी उग्रक्रियाओंका साधन करलेवे तो करलेवे अर्थात् श्रुति और स्मृतियोंमें जो भिन्न २ वर्ण और अश्रमोंके लिये विधि त्यागकी आज्ञा है तिनके ग्रहण और त्यागमें पूर्णप्रकार निपुण होजावे तो होजावे तथा उग्र तपस्या कर, वनोंमें जा, सूखी पत्तियोंका अहार करके केवल जल वा वायुके आधारपर रहकर एक पांवपर खडा होवे तो वरषों मौन रहकर एकान्त बास करता हुआ केवल भजन पूजनमें समय बितावे तो बितावे तथा कृच्छ्र चान्द्रायण इत्यादिका सम्पादन करसके तो करसके पर [एवं-रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर!] हे कुरु-कुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! तुझको छोड पूर्वोक्तगुणोंसे परिपूर्ण महात्माओंमें किसीको भी मैं इस अपने स्वरूपको नहीं दिखलासका जैसा, कि आज तुझको दिखलाया है ।

शंका—भगवान् दूसरोंको जो नाना प्रकारके यज्ञ, दान, तप इत्यादिके करनेसे भी अपना स्वरूप नहीं दिखलाते उसे अर्जुनको राज्य करते हुए नाना प्रकारके विषयोंमें तथा युद्धादि सकामकर्मोंमें डूबे हुए रहनेपर भी दिखला दिया ऐसा पक्षपात क्यों ?

इस श्लोकके पढनेसे भगवान्का पक्षपाती होना सिद्ध होता है और शास्त्रों में भगवान् पक्षपातरहित कहेगये हैं ।

समाधान— इसमें तनक भी सन्देह नहीं है, कि भगवान् पक्षपातरहित है, न्यायी है, समदर्शी है इसलिये न्यायपूर्वक सब जीवोंपर समानदृष्टि रखकर सबोंको कर्मानुसार फल देताहै किसीका पक्षपात नहीं करता। यहांतक, कि जब वह स्वयं किसी विशेष कार्यके साधननिमित्त कुछ ऐसा व्यवहार करता है जिससे सामान्यदृष्टि वाले उसमें कुछ दोष लगासकें तब वह स्वयं अपना दण्ड भी आप ही न्यायपूर्वक करलेता है। देवोंने बौद्धरूप धारणकर वेदोंकी निन्दा की तो आपने अपने ऊपर यह शाप अंगीकार करलिया, कि इस मुखसे मैंने वेदोंकी निन्दा की है इसलिये यह मेरा मुख कोई न देखे। रावण जो ब्राह्मण था उसको मारा तो ब्रह्महत्यासे उद्धार होनेके लिये यज्ञोंका सम्पादनकर प्रायश्चित्तसे शुद्ध हुये नारदको वानरका मुख देकर छला तो नारदका शाप अपने ऊपर अंगीकार करलिया। एक धोबी के वचनके ऊपर जानकीको बनवास देदिया। मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवान्ने अपने आप न्यायकी स्थितिको दृढ रखनेके लिये कभी मर्य्यादा पुरुषोत्तम कभी लीला पुरुषोत्तमका अवतार धारणकर और कभी स्वयं अपने ऊपर दण्डादि स्वीकारकर न्यायके पथको पक्षपातरहित होकर पालन किया है।

प्यारे पाठको! जो भगवान ऐसा पक्षपातरहित है भला वह कब किसीका पक्षपात करसकता है पर यह वार्त्ता भी संसारमें प्रसिद्ध है, कि " नेमके चन्दासे कहो प्रेम भानु प्रकाश " अर्थात् ये जो नियम इत्यादि ऊपर कथन कियेगये हैं वे तबहीतक चन्द्रमाके समान स्थिर हैं और प्रकाशित हैं जबतक प्रेमके सूर्यने प्रकाश नहीं

किया है जहां प्रेमका सूर्य उदय हुआ नेमका चन्द्र मलिन होगया । इसी कारण भगवान् भक्तवत्सल जो साक्षात् प्रेमका स्वरूप ही हैं जब प्रेमके प्यालेको प्रेमियोंके हाथसे पीलेता है तब उसके नशेमें मत्त होकर भक्तोंके लिये उसे पक्षपात करना ही पडता है । सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के ब्रह्मादि देव एक ओर एक पंक्तिमें खडे करदिये जावें और एक भक्त अकेला ही दूसरी पंक्तिमें खडा करदिया जावे और बीचमें भगवान् स्वयं किसी स्वरूपको धारण कर खडा होजावे पश्चात् सब देवता हाथ जोडकर उसको अपनी ओर बुलावें और भक्त कुछ भी न करके केवल उसके प्रेममें अश्रुपात करता हुआ उसकी ओर एकटक लगाए खडा रहे तो भगवान् देवोंकी ओर कुछ भी न देखकर बिना बुलाये दौडकर उस भक्तके गलेमें जा लिपटेगा और उसके गलेका हार बनजावेगा । इसलिये यह निश्चयकर जानना चाहिये कि केवल प्रेमका पक्षपाती अन्य किसी भी महत्त्व बल, वीर्य्य वा ऐश्वर्यका पक्षपाती नहीं है । फिर भगवान अपने मुखसे कहते हैं, कि " सर्वे नश्यन्ति ब्रह्माण्डे प्रभवन्ति पुनःपुनः । न मे भक्ताः प्रणश्यन्ति निश्शंकाश्च निरापदः (ब्रह्मवैवर्त्त अ० ६) इस ब्रह्माण्डमें सब देवता, देवी, गन्धर्व, किन्नर, राक्षस मनुष्य बारंबार जन्मते और मरते रहते हैं पर मेरा भक्त जो सदा निःशंक और आपदारहित है कभी भी नाशको प्राप्त नहीं होता फिर " आलिंगनात् सदालापात्तेषामुच्छिष्टभोजनात् । दर्शनात्स्पर्शनाच्चैव सर्वपापात प्रमुच्यते ॥ मद्भक्तपादरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा । सद्यः पूतानि तीर्थानि सद्यः पूतं जगत्तथा " (ब्रह्मवैवर्त श्रीकृष्णजन्मखण्ड १२८ अध्याय)

अर्थात् मेरे भक्तोंके शरीरका आलिंगन करनेसे, उनके साथ वार्त्तालाप करनेसे, उनका उच्छिष्ट भोजन करनेसे, उनके दर्शनसे और उनका स्पर्शकरनेसे प्राणी सब पापोंसे छूट जाता है। मेरे भक्तके चरणोंकी धूलिसे सारी वसुन्धरा पवित्र होती है सब तीर्थ शीघ्र ही पवित्र होते हैं तथा सम्पूर्ण जगत् अर्थात् तीनों लोक पवित्र होजाते हैं।

प्रिय पाठको! कहांतक भक्तोंकी महिमा कही जावे इतना ही कहना बहुत है, कि भगवान् भक्तोंके वशीभूत है जो जिसके वशीभूत रहता है वह उसका पक्ष करताही है इस कारण भगवान् केवल भक्तोंका पक्षपाती है मूल प्रेम है। यदि भक्तोंका पक्षपाती न होता तो प्रह्लादके सम्मुख हिरण्यकशिपुका बध नहीं करता उसकेलिये तो दोनों समान ही थे पर प्रह्लादको भक्त जानकर पक्षपात किया।

श्र०—"व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का,
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम।
कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम्,
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियः केशवः॥"

अर्थ— वाल्मीकि व्याधाके पास क्या आचरण था वह तो दिनरात जीवोंको मारमारकर पेट भरता था उसे तार क्यों दिया? यदि यह कहो, कि उसमें आचरण तो नहीं था पर वृद्ध होगया था अवस्थासे हीन होगया था, यदि यह कहो कि वृद्धावस्था जानकर भगवान् तारते हैं इसलिये उसपर दया की तो ध्रुवकी क्या अवस्था थी? वह तो

बच्चा था उसपर क्यों दया की यदि यह कहो, कि अवस्था उसकी थोडी तो थी पर बचपनहीमें वह विद्वान् होगया था इसलिये उसे विद्वान् जानकर उसपर कृपा की, तो भला यह बताओ, कि गजेन्द्रके पास कौनसी विद्या थी। यदि यह कहो, कि गजेन्द्र विद्वान् तो नहीं था पर पशुकी जातियोंमें श्रेष्ठ था इसलिये श्रेष्ठ जाति जानकर उसको मुक्त करदिया तो भला यह बताओ, कि विदुरकी क्या जाति थी वह तो शूद्र था। यदि यह कहो, कि वह शूद्र तो था पर बहुत बडा पुरुषार्थी था इसलिये उसके पुरुषार्थको देखकर उसे उद्धार करदिया। यदि ऐसा है तो भला बताओ, कि यादवोंके राजा उग्रसेनमें कौनसे पुरुषार्थकी प्रबलता थी जिससे उसके पुत्रने राजगद्दी छीनली थी। यदि कहो, कि उग्रसेन पुरुषार्थी तो नहीं था पर बडा सुन्दर था इसलिये उसे तार दिया भला बताओ, कि तीन जगहसे टेढी कुब्जामें कौनसी लावण्यछटा छिटक रही थी यदि यह कहो, कि कुब्जामें सुन्दरता तो नहीं थी पर कंसके घरसे द्रव्य एकत्रितकर श्रीमती बनगयी थी इसलिये उसे तार दिया तो भला यह बताओ, कि सुदामाके पास कौनसा धन था जिससे उसका उद्धार करदिया। इन बातोंको देखकर पूर्णप्रकार सिद्ध होता है, कि न आचरणसे, न अवस्थासे, न विज्ञानसे, न जातिसे, न पुरुषार्थसे, न सुन्दरतासे और न धनसे वह भगवान् रीझता है वह तो केवल प्रेमपरिपूर्ण भक्तिसे ही रीझता है अन्य किसी भी गुणसे नहीं। इसलिये उसका नाम 'भक्तिप्रिय' है।

अतएव बार-बार यही कहना पडेगा, कि भगवान्ने अर्जुनके अन्य किसी भी गुणकी ओर न देखकर केवल उसके हृदयका पूर्ण

प्रेम अनुभवकर उसका पक्षपात किया । अर्थात् जो रूप आज तक किसीको नहीं दिखलाया था वह रूप उसको दिखलाया ।

अब भगवान् अर्जुनकी प्रार्थना स्वीकारकर उसे सन्तोष देतेहुए अपने पूर्व कृष्णरूपको दिखलानेकी प्रतिज्ञा कर कहते हैं—

मू०— मा ते व्यथा मा च विमूढभावो,
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं,
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

पदच्छेदः— ईदृक् (ईदृशम) घोरम् (भयावहम) मम, इदम, (दुर्लभदर्शनम) रूपम (विश्वरूपम) दृष्ट्वा (अवलोक्य) ते (तव) व्यथा (मानसदुःखम्) मा [भवतु] विमूढभावः (अज्ञानकृतमोहः) च, मा [अस्तु] व्यपेतभीः (निर्भयः । अपगतभयः ।) प्रीतमनाः (प्रसन्नचेताः) त्वं, पुनः, मे (मम) तत् (यत्त्वया द्रष्टुम्प्रार्थितं वासुदेवत्वादिविशिष्टम्) इदम (विश्वरूपोपसंहारेण प्रकटीक्रियमाणम्) रूपम् (विश्वरूपजनितव्यथादिनिवृत्त्यर्थं कृष्णरूपम) एव, प्रपश्य (प्रकर्षेण भयराहित्येन सन्तोषेण च अवलोकय) ॥ ४९ ॥

पदार्थः— अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! (ईदृक्) ऐसा (घोरम्) भयंकर (मम) मेरे (इदम्) इस दुर्लभदर्शन (रूपम्) विश्वरूपको (दृष्ट्वा) देखकर (ते) तुमको (व्यथा)

मानसिक क्लेश (मा) मत हो तथा (विमूढभावः) अज्ञानसे उत्पन्न जो मोह (च) सो भी (मा) मत होवे अब (व्यपेतभीः) भयसे रहित होकर तथा (प्रीतमनाः) प्रसन्नचित्त होकर (त्वम) तू अर्जुन ! (पुनः) फिर (मे) मेरे (तत्) उसी वासुदेव स्वरूपको जिसको देखनेकी तू इच्छा करता है (इदम्) इस विश्वरूपके उपसंहार करनेपरे प्रकट होनेवाले (रूपम्) रूपका (एव) निश्चय करके (प्रपश्य) इच्छापूर्वक दर्शन कर ॥ ४९ ॥

भावार्थः—अर्जुनका भय मिटानेके तात्पर्यसे भगवान् उसे सन्तोष जनक श्लोक सुनाकर उसके मनको स्थिर और प्रसन्नकरनेके निमित्त उसकी प्रार्थनाके अनुसार भयंकर स्वरूपको अन्तर्धान कर अब अपनी मधुरमूर्ति वासुदेवस्वरूपको पुनः दिखलानेकी इच्छासे कहते हैं, कि [मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम्] हे अर्जुन! तू जो इस समय कांपता और थर्राता हुआ इस मेरे भयंकररूपको देखकर परम क्लेशको प्राप्त होरहा है तथा अचेतसा हुआ देख पडता है सो तू अब सचेत होजा ! व्यथाको मत प्राप्त हो । अर्थात मैं तुझे यही आशीर्वाद देता हूं, कि तुझको किसी प्रकारकी व्यथा न होवे ।

यहां भगवानने जो अर्जुनको विमूढभाव कहा तिसका कारण इतना ही है, कि अर्जुनकी भी वृत्तिमें किंचित भगवन्माया करके अज्ञानता का प्रवेश हो गया है। यद्यपि अर्जुन भक्तशिरोमणि है भगवानका

अत्यन्त प्रिय है तथापि भगवन्मायाकी ऐसी प्रबलता है, कि अर्जुन के चित्तको भी भयातुर करदिया है पर यहां भी उस महाप्रभुकी दयालुता जो सदा भक्तोंपर बनी रहती है तिसका प्रभाव तो देखो कि भगवान् अर्जुनपर क्रोध न करके दया ही कर रहे हैं । अर्जुनपर तो भगवान्‌को इस समय क्रोध करना चाहिये था क्योंकि अर्जुननेही भगवान् को अपने स्वरूपको दिखानेकी प्रार्थना की है और उसी प्रार्थनाके अनुसार भगवान्‌ने अपना विराट्‌रूप दिखलाया है फिर अर्जुनको उचित था, कि इस स्वरूपको देखकर भयभीत न होता, व्याकुल न होता और प्रसन्नता पूर्वक देखताही रहता पर ऐसा न करके अर्जुनने जो यह कहा, कि हे प्रभो ! इस विश्वरूपको हटाकर पहला कृष्णरूप जो माधुर्यमय है उसेही धारण करो । इससे थोडी देरके लिये ऐसा जानपड़ता है, कि अर्जुनको भगवान्‌के विश्वरूपसे अरुचि हुई तभी तो इस स्वरूपको त्यागदेनेकी प्रार्थना की । यदि कोई किसीके रूपको देखकर अप्रसन्न हो तो उस रूपवालेको अवश्य क्रोध होगा, कि यह मेरे रूपको देखकर घृणा करता है और ऐसा ही अर्जुनने इस समय किया भी है । जैसे कोई अमृतके सरोवरके समीप जाकर केवल डूबनेके भयसे उसे त्याग आवे जैसे किसी पुरुषको कुवेरका भण्डार हाथ लगजावे तो केवल बोझ उठानेके भयसे वह उसे त्यागकर रीता हाथ घर लौट आवें, जैसे कोई अज्ञानी कामधेनुको पाकर केवल दाना घास देनेके भयसे छोडदेवे, जैसे कोई लक्ष्मीको घर आये हुए देख केवल सत्कार करदेनेके भयसे घरसे निकाल देवे और जैसे कोई चिन्तामणिका हार गलेमें बोझ होनेके कारण निकालकर फेंकदेवे इसी प्रकार आज अर्जुन केवल भय

से भीत होकर भगवानके विराट्रूपके अलभ्य दर्शनको पाकर भी भगवान् से उस रूपका उपसंहार करलेनेकी प्रार्थना की। सत्य है उस महाप्रभुकी दयालुता जिसनें अपनें स्वरूपके ऐसे निरादरको भी सह-कर अर्जुनसे कहा, कि तू जो उस मेरे भयंकर स्वरूपको इस प्रकार देख कर घोर क्लेशको प्राप्त हुआ है सो अब तिस व्यथाको तथा अपने मनके अज्ञान कृत मोहको त्याग दे। सब अब तू [व्यपेतभी: प्रीतमना: पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य] भयको त्याग प्रसन्नचित्तसे जैसे पहले मेरे मधुर स्वरूपको देख प्रसन्न होता था और अनुरागभरी दृष्टिसे देखा करता था जिसके देखनेसे तुझे सदा मेरे संग उठने, बैठने, चलने, फिरने और हँसने बोलनेकी श्रद्धा होती थी उसी प्रकार निर्भय और प्रसन्नचित्त होकर परम श्रद्धा और भक्तिकेसाथ इस मेरे स्वरूपका दर्शन करता हुआ पूर्ण सन्तोषको प्राप्त हो और जैसे पहले तू स्थिरचित्त होकर मेरे साथ कर्म, उपासना, ज्ञानादिके विषय अनेक वार्ताएँ किया करताथा ऐसे फिर मेरे साथ उन पवित्र वार्ताओंमें लगजा ॥ ४९ ॥

धृतराष्ट्रके चित्तमें यह निश्चय होजावे, कि श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं जो चाहें करसकते हैं जिन्होंने सम्पूर्ण विश्वको अपने स्वरूपमें ऐसे भर रक्खा है जैसे किसी शुद्ध निर्मल मृत्तिकाके घटमें अमृत हीं अमृत भरा हो। इसलिये उनकी कृपासे अर्जुन रणमें अवश्य जीतेगा। इसी अभिप्रायसे सञ्जय बोला।

सञ्जय उवाच ।

मू०—इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा,
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनम्,
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

पदच्छेदः— वासुदेवः (सत्यत्वेनसर्वेषामाधारः । प्रकाशकः) अर्जुनम् (पृथापुत्रम्) इति (तदेवं मे रूपम् प्रपश्य इति) उक्त्वा (उच्चार्य) तथा, स्वकम् (निजम् स्वस्य भक्तस्य कं सुखं भवति यस्मात्तत्) रूपम् (किरीटादियुक्तां मनोहरमूर्तिम्) भूयः (पुनरपि) दर्शयामास, पुनः, [स] महात्मा (अनन्तभगवान् । परमकारुणिकः सर्वेश्वरः) सौम्यवपुः (प्रीतिजनकमूर्तिः) भूत्वा, भीतम् (विश्वरूपदर्शनेन भयाविष्टम्) एनम् (अर्जुनम्) आश्वासयामास (उभयपाणिना सर्वांगस्पर्शनेन भयं माकार्षीः इत्युक्त्वा सन्तोषं दत्तवान्) ॥ ५० ॥

पदार्थः— (वासुदेवः) उस भगवान् वासुदेवने (अर्जुनम्) अर्जुनको (इति) इतना वचन (उक्त्वा) कहकर (तथा) तिसी प्रकारके पहले (स्वकम्) अपने (रूपम्) स्वरूपको (भूयः) फिर (दर्शयामास) दिखलाया (पुनः) फिर (महात्मा) सो महात्मा श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दने (सौम्यवपुः) परम सुन्दर दिव्य स्वरूपवाला (भूत्वा) होकर (भीतम्) डरे हुए (एनम्)

इस अर्जुनको (आश्वासयामास च) प्रेमपूर्वक आश्वासन भी किया अर्थात् समझाबुझाकर सन्तुष्ट करदिया ॥ ५० ॥

भावार्थः— सञ्जयको व्यासदेवने दिव्यदृष्टि प्रदान कर यह आज्ञा दी थी, कि धृतराष्ट्र दोनों नेत्रोंसे विहीन हैं इस कारण तू उनके समीप बैठा २ महाभारतकी वार्त्ताओंको अपनी दिव्यदृष्टि द्वारा देखताहुआ उनको सुनायाकर कदाचित् सुनते-सुनते वह धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंको संधिकी आज्ञा देदेवे तो अति ही उत्तम होगा । बहुतेरे वीर बुद्धिमान् नाना प्रकारकी विद्या जाननेवाले जो अस्त्र, शस्त्र तथा शास्त्रमें निपुण हैं मरनेसे बचेंगे और भारतभूमिकी शोभा नहीं बिगडेगी इसी कारण संजय भगवान्के महत्वको वर्णन करताहुआ धृतराष्ट्र को संधिका संकेत कररहा है और मन ही मन विचाररहा है, कि यदि मैं इस अन्धे नरेशको भगवत्की महिमा कहसुनाऊं तो कुछ उचित व्यवहारे साधन होजावे तो आश्चर्य ही क्या है ? ऐसा विचार सञ्जय धृतराष्ट्रसे कहता है, कि [इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः] श्री सच्चिदानन्द आनन्दकन्द विश्वव्यापक श्यामसुन्दरने यह कहकर, कि हे अर्जुन ! तूने जिस प्रकार मेरे विश्वरूपको उपसंहार कर मानुषी रूपके दिखलानेकी प्रार्थना की है वैसे ही तेरी अभिलाषाकी पूर्तिनिमित्त तेरे कथनानुसार ही अपने दिव्यरूपको हटा भक्तोंके सुखकेलिये किरीटादियुक्त निज मनोहर रूप दिखलाता हूं । इतना कहकर भगवान्ने अर्जुनको किरीटादियुक्त अपना कृष्णरूप दिखलादिया अर्थात् विश्वरूपसे चतु-

भुजीरूप होगये तत्पश्चात् पूर्ववत् मानुषी रूपको धारण करलिया । तात्पर्य यह है, कि अर्जुनकी सारी दिव्यदृष्टि मिटगयी तो अपने चर्मचक्षुओंसे भगवान्को फिर अपने सखारूपमें देखनेलगा और विश्वरूपको ऐसे गुप्त रखलिया जैसे कोई चिन्तामणिको एक विचित्र सुन्दर मनोहर डिब्बोंमें रखलेता है ।

प्यारे पाठको ! श्यामसुन्दरकी भक्तवत्सलताको तो विचारो, कि जैसे २ अर्जुन कहता है भगवान् बिना बिचारे वैसे-वैसे करनेको तत्पर हैं । देखो ! पहले तो परम मनोहर कृष्णरूप ही धारण कियेहुये अर्जुनके सखा तथा रथवान बनेहुए मन्द-मन्द मुसकानके साथ अर्जुनसे धार्मिक-वार्ताओंके कहने सुननेमें लगेहुए थे फिर जैसे ही अर्जुनने विराट्रूप देखनेकी अभिलाषा की और भगवान्से कहा, कि " द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम " (श्लोक ३) हे पुरुषोत्तम ! मैं तुम्हारे सर्व ऐश्वर्यमय रूपके देखनेकी इच्छा करता हूं उस अव्यय आत्मपुरुषको दिखलाओ इतना सुनते ही भक्तकी अभिलाषानुसार उस महाप्रभुने अर्जुनको झट अपना विश्वरूप दिखला दिया फिर जब विश्वरूप देखने के पश्चात् अर्जुनने कहा, कि "तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ! " (श्लोक ४५) हे देवेश ! हे जगन्निवास ! अब मैं आपके उसी पहले कृष्णरूपको देखा चाहता हूं । तब भगवान् फिर वही कृष्णरूप बनगये । क्या इस भक्तवत्सलताकी कहीं सीमा भी है ? क्या भगवान्से अतिरिक्त कोई प्राकृत स्वामी इस प्रकार अपने सेवककी रुचि रखसकता है पर वाह रे तेरी भक्तवत्सलता और दयालुता । क्यों न हो !

अभी तो जगत्वासी हँसरहा है और तुझे ब्रह्मादि देव मस्तक झुकारहे हैं! आग पानी सब तेरी आज्ञाका पालन कररहे हैं। अर्थात् सब तेरे भयसे थर्रारहे हैं धन्य! धन्य! हे महाप्रभो! तू धन्य है।

प्रिय पाठको! संजय कहता है, कि अर्जुनकी रुचिअनुसार भगवान् अपने विश्वरूपको समेट फिरे कृष्णरूप कैसे होगये? तो जैसे कोई बाजीगर अपनी पिटारीसे सारा खेल निकाल, सर्वत्र फैला, फिर थोडीही देरमें सारा खेल अपनी उसी छोटी पिटारीमें रख बन्द करलेता है, जैसे सम्पूर्ण वृक्षका आकार और विस्तार सूक्ष्मरूपसे बीजमें समा-जाता है, जैसे समुद्रका भाठा ज्वार दटकर फिर समुद्रहीमें लय हो-जाता है, जैसे निस्पन्द वायु स्पन्दित हो सर्वत्र झंझावात, अंधड झक्कड ओला-बगोला, मेघोंमें धडक, बिजलीमें कडक होकर फैलजाती है और फिर पल मारते-मारते तक सब उसी वायुमें लय हो शान्त होजाते हैं इसी प्रकार भगवानका विश्वरूप फैलकरे फिर कृष्णरूपमें लय होगया।

अब संजय कहता है, कि [**आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा**] एवंप्रकार उस परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्रने परम मनोहर कृष्णस्वरूप धारणकर डरे हुए अर्जुनको आश्वासन किया अर्थात् प्रीतिपूर्वक अपना हस्तकमल उसके मस्तकपर रख सन्तोषजनक वचनोंसे उसे निर्भय और प्रसन्न-चित्त करदिया। जो अर्जुन पहले अपने सामने परम विकराल काल-

स्वरूपको देखकर कंपायमान और अचेतसा होरहा था उसने फिर स्थिर-चित्त प्रसन्नवदन पुलकित शरीर हो भगवान् वासुदेवको मोरमुकट-मंडित, पीताम्बरराजित हाथोंसे अश्वोंकी बागडोर लिये रथपर खडा देखा ।

अब फिर उसकी दृष्टिमें वही कुरुक्षेत्र है जहां रथपर अपनेको और श्यामसुन्दर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र को एक साथ देखरहा है । जैसे किसी राजकुमारकी आंखोंपर पट्टी बांध कोई उसको अपने घरसे निकाल कोई यक्ष वा गन्धर्व अपने लोकोंमें लेजाकर उसकी आंखें खोल अपने गन्धर्वनगरकी शोभा दिखला फिर पूर्ववत् उसे मृत्युलोकमें पटक देवे ऐसी ही ठीक दशा अर्जुनकी हुई, कि गन्धर्वलोकसे झट मृत्युलोकमें पटका गया । दिव्य चक्षुओंसे फिर वह अपनी चर्मचक्षुओंको प्राप्त हुआ । भगवत्‌को तो अर्जुनसे युद्धसम्पादन करवाना था इसलिये अपनी मायाकी ऐसी प्रेरणा करदी, कि अर्जुनके चित्तमें विश्वरूपसे भय प्राप्त होगया और ऐसे दुर्लभ दर्शनको त्याग फिर कुरुक्षेत्रमें लौट आया । ऐसी इच्छा भगवानकी ही थी नहीं तो अर्जुनको तो विश्वरूपका दर्शन पाते ही उसी विश्वरूपमें मिलजाना उचित था पर उस महाप्रभुकी इच्छाकी प्रबलताने ऐसा ही करदिया ॥ ५० ॥

अब अर्जुन सचेत हो प्रसन्न चित्तसे मन्द-मन्द मुसकाता हुआ भगवानके मंजुल मुखारविन्दकी ओर देखताहुआ यों बोला—

अर्जुन उवाच ।

मू०— दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ! ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१

पदच्छेदः— [हे] जनार्दन ! (जनान् राक्षसान् अर्दयतीति जनार्दनः तत्सम्बुद्धौ हे जनार्दन !) तव, इदम् (प्रत्यक्षादृष्टम्) मानुषम (मनुष्याणां दर्शनयोग्यं। नराकारम्) रूपम् (किरीटादियुतं स्वरूपम्) दृष्ट्वा (अवलोक्य) इदानीम् (अधुना) सचेताः (चेतसा सहितः । प्रसन्नचित्तः । भयकृतव्यामोहाभावेनाव्याकुलचित्तः) [तथा] संवृत्तः (पूर्वापरानुसंधानयुक्तान्तःकरणः) अस्मि [तथा] प्रकृतिम् (स्वास्थ्यम । स्वभावम्) [च] गतः (प्राप्तः) [अस्मि] ॥ ५१ ॥

पदार्थः— (जनार्दन !) हे भक्तजनोंके दुःख निवारण करनेवाले ! (तव) तुम्हारा (इदम्) यह (सौम्यम्) प्रियदर्शन एवं सुन्दर मनोहर (मानुषम्) मानुषी (रूपम्) स्वरूपको (दृष्ट्वा) देखकर (इदानीम्) अब इस समय मैं (सचेताः) सचेत और (संवृत्तः) पूर्वापरको ठीक-ठीक अनुसंधान करनेवाली वृत्तिसे युक्त (अस्मि) होरहा हूं और (प्रकृतिम्) अपने पूर्वस्वभावको भी (गतः) ज्योंका त्यों पागया हूं ॥ ५१ ॥

भावार्थः— भगवान्ने जो अपना सुन्दर मनमोहनस्वरूप अर्जुनको दिखलाया इससे अर्जुन परम प्रसन्न होगया है । सच है !

जो स्वयं जिस स्वरूपका होता है उसको अपनी ही जातिका स्वरूप परम मनोहर देखपड़ता है और अपनी ही जातिके स्वरूपमें प्रीति भी उपजती है। जैसे मनुष्यको मनुष्यमें, गन्धर्वको गन्धर्वमें, देवको देवमें, राक्षसको राक्षसमें, पशुको पशुमें और पक्षीको पक्षीमें। इसी कारण भगवान् भी अपनी ओर प्रीति बढ़ानेके लिये राम, कृष्णादि मानुषी स्वरूपमें अवतार लेकर हम लोगोंके घरमें आकर हमारे साथ भोजन, शयन हंसी, खेल, बातचीत किया करता है और हमसे प्रीति लगाजाता है इसी कारण अर्जुनको भगवान्के विश्वरूपकी अपेक्षा मानुषीस्वरूपमें अधिक प्रीति है। सो अयोग्य नहीं है योग्य ही है अतएव अर्जुन भगवान्की मानुषी मूर्त्तिको देख यों बोला, कि [दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्द्दन!] हे जनार्दन! तुमको सारा विश्व जनार्दन इसी कारण कहता है, कि तुम अपने भक्तजनोंकी पीडाको अधिक नहीं सह सकते थोडी ही देरमें नाश करडालते हो, तुम जनार्द्दन कहेजाते हो सो प्रत्यक्ष है। मुझे तो अनुभव होरहा है क्योंकि तुमने मेरेहृदयकी पीडा देख अपने विश्वरूपको हटालेनेमें तनक भी विलम्ब नहीं किया। सो हे जनार्दन! मैं तुम्हारी इस मनमोहिनी मूर्ति को अवलोकन करके [इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः] इस समय संवृत होगया हूँ और सचेत होगया हुं अर्थात मेरी बुद्धि जो मारे भयके व्याकुल होगयी थी इस कारण चंचल होकर इधर-उधर डोल रही थी वह अपने ठिकाने पहुँच गयी और पूर्वापरका अनुसंधान जो जातारहा था सो अब ठीक होगया। अन्तःकरण ज्यों का त्यों स्थिर होगया और अब मैं सम्पूर्णप्रकारके भयोंसे मुक्त होगया। नाथ! अब मैं पूर्णप्रकार प्रसन्न हो गया और मेरे अन्तः-

करणको जिन तत्त्वोंकी आवश्यकता थी और जो त्रुटि होगयी थी सब पूरी होगयी ॥ ५१ ॥

एवम्प्रकार अर्जुनको प्रसन्न देखकर भगवान् भी
प्रसन्न होकरे बोले—

श्रीभगवानुवाच ।

मू०— सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥

पदच्छेदः— मम (वासुदेवस्य) यत्, इदम् (विश्वरूपम) सुदुर्दर्शम (सुतरां दुःखेनापि द्रष्टुमशक्यम । ब्रह्मादिभिरपि दर्शनायोग्यम) रूपम् दृष्टवान् (अवलोकितवान्) असि, देवाः (इन्द्रादयः) अपि, अस्य, रूपस्य (विश्वरूपस्य) नित्यम् (सदा) दर्शनकांक्षिणः (दर्शनेच्छावन्तः । दर्शनेप्सवः । दर्शने कांक्षन्ते एव नतु लभन्ते) ॥ ५२ ॥

पदार्थः— (मम) मेरा (यत्) जो (इदम्) यह विश्वस्वरूप (सुदुर्दर्शम्) सुतरां अत्यन्त दुःख करेके भी देखने योग्य नहीं है (रूपम्) ऐसे रूपको तू (दृष्टवानसि) देख चुका है सो वह रूप कैसा है, कि (देवाः अपि) इन्द्रादि देवगणभी (अस्य रूपस्य) इस रूपके (नित्यम्) सर्वदा (दर्शनकांक्षिणः) दर्शनकी इच्छा रखने वाले हैं अर्थात् इस मेरे विश्वरूपके दर्शनकी इच्छा देवोंको भी सदा बनीही रहती है पर वे दर्शन नहीं पाते ॥ ५२ ॥

भावार्थः—अर्जुन जो अपने हृदयकी दुर्बलताके कारण विश्वरूपके देखनेसे भयभीत हुआ है इससे संसारके प्राणी ऐसा न समझें, कि कोई देवता वा देवी इस विश्वरूपके देखने योग्य नहीं है इसलिये किसीको भी इस विश्वरूपके दर्शन पानेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। सो इस भ्रमको मिटादेनेके लिये इतना कहना आवश्यक है, कि अर्जुनको इस विश्वरूपसे घृणा वा इसके देखनेसे अरुचि नहीं हुई है वरु जिस समय उसने इस विश्वरूपका दर्शन पाया है उस समय तो परम आनन्दको प्राप्त हुआ है और बडी रुचिसे देखने लगा है और देखते समय भगवानसे बोला है, कि "अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा" (श्लो० ४५) हे भगवन्! यह जो तुम्हारा स्वरूप पहले कभी किसीसे नहीं देखागया है उसे आज मैं देखकर परम हर्षको प्राप्त हुआ हूं।

अर्जुनके इस वचनसे प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि अर्जुन विश्वरूपको देखकर आनन्दको प्राप्त हुआ है। उसे इस स्वरूपके देखनेसे अरुचि नहीं है पर भगवानके विश्वरूपमें, सत्त्व, रज और तम त्रिगुणमयी वस्तु प्राप्त थीं वा प्राप्त हैं। जो सुन्दरसे सुन्दर और भयंकरसे भयंकर हैं। यदि एक ओर दृष्टि जाती है तो सुन्दरताई, छवि, शोभा तथा शृंगार इत्यादिकी हाट लगीहुई है जहांसे नेत्र लौटना नहीं चाहता और इसीके प्रतिकूल जब दूसरी ओर दृष्टि जाती है तो भयंकर, डरावना, महाविकरालस्वरूप मानो कराल मुंह पसारकर खडा है ऐसा देखकर दृष्टि नीचे गिरजाती है। सो अर्जुन विश्वरूपको देखते-देखते जब कालस्वरूपकी ओर देखने लगा है तो उससे देखा नहीं गया है वरु व्याकुलचित्त हो उस

उग्ररूपको उपसंहारकर निलाम्बुजश्यामलकान्तिधारी रूपके दिखानेकी प्रार्थना करने लगा है।

भगवान्के विराट्रूपमें जो भगवान्की भयंकर मूर्तियां हैं वे अभक्त, हिंसकों, अन्यायियों और घोर आततायियोंको दण्ड देनेकेलिये हैं। अर्जुन ऐसे भक्तके लिये नहीं हैं। इसी कारण भगवत्का परमप्रिय अर्जुन भगवत् के भयंकर स्वरूपको नहीं देखसका और मधुरमूर्त्ति ही को देखनेकी इच्छा की क्योंकि भक्तों की निष्ठा भी ऐसी ही है, कि जिस भक्तको भगवान के राम, कृष्ण, आदि जौनसी मूर्त्तिमें उपासनाका अभ्यास है उसी अपने इष्टदेव ही की मूर्त्ति सदा देखते रहनेकी अभिलाषा बनी रेहती है।

पर यहां भगवान यों बिचारने लगे हैं, कि जो साधारण व्यक्ति उपासनाका रहस्य नहीं जानते उनके चित्तमें यही शंका उदय हो आवेगी, कि अर्जुनने भगवन्मूर्त्तिके देखनेमें अरुचि प्रकट की है इस कारण यह मूर्त्ति दर्शनीय नहीं है अतएव सर्वसाधारणके चित्तसे इस भ्रमको मिटानेके तात्पर्य्यसे भगवान् अर्जुनको समझानेके मिससे मानों सम्पूर्ण जगत्को समझाते हुए कहते हैं, कि [सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम] यह मेरा स्वरूप जो सर्वप्रकार मंगलदायक है सो परम दुर्दर्श है अर्थात् बडे दुःख उठाकर देखने योग्य है। सो हे अर्जुन ! तूने जो इस समग्र मेरी इस विश्वमूर्त्तिको देखा है सो अनेक प्रकार कृच्छ्र, चान्द्रायण, मौनव्रतादि साधन करनेवाले सिद्धोंको भी दुर्लभ है सब इस मूर्त्तिके देखनेकी इच्छा रखते हैं अन्य किसी जीवको तो कौन गिने ?

क्योंकि [देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः] इन्द्र, वरुण, कुवेर, शेष, महेश, गणेश, दिनेशादि सब इस मेरी विश्वमूर्तिके दर्शनकी अभिलाषा रखते हैं पर देख नहीं सकते ।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि हे अर्जुन ! तू बडा भाग्यवान है, कि ऐसे दुर्दर्शरूपको तूने आज सहजहीमें देखलिया है ॥ ५२ ॥

देवादि भी इस रूपको क्यों नहीं देखसकते इसका कारण भगवान अगले श्लोकमें यह कहते हैं, कि कोई प्राणी अनेक प्रकारके यत्न करनेसे भी मेरे इस स्वरूपको नहीं देख सकता ।

मू०— नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३

पदच्छेदः— **माम्** (विश्वरूपम्) **यथा** (येन प्रकारेण) **दृष्टवानसि** (अवलोकितवानसि) **एवंविधः** (त्वद्दृष्टप्रकारः) **अहम्** (वासुदेवः) **वेदैः** (स्वाध्यायैः) **द्रष्टुम्** (अवलोकयितुम्) **न, शक्यः** (समर्थः) **तपसा** (कृच्छ्रचान्द्रायणादिना) **न, दानेन** (सत्पात्रे गोभूहिरण्याद्यर्पणेन) **न, इज्यया** (यज्ञादिना । अग्निष्टोम-वाजपेयादिभिः । पूजया वा) **च, न** ॥ ५३ ॥

पदार्थः— (**माम्**) मुझ विश्वरूपवालेको (**यथा**) जिस प्रकारसे हे अर्जुन ! (**दृष्टवानसि**) तूने देखा है (**एवंविधः**) इस प्रकारसे (**अहम्**) मैं दूसरोंके लिये (**वेदैः**) चारों वेदोंके अध्ययन

करनेसे (द्रष्टुम्) देखे जानेको (न शक्यः) समर्थ नहीं हूँ तथा (तपसा न) तपस्यासे भी नहीं (दानेन न) दानसे भी नहीं (इज्यया च न) यज्ञादिसे भी नहीं देखेजानेको शक्य हूं ॥ ५३ ॥

भावार्थः— भगवान् अर्जुनके मनकी बात जानगये अर्थात् जब भगवान्ने पूर्वश्लोकमें यह कहा, कि देवगण भी मेरे इस रूप को देखा चाहते हैं पर देख नहीं सकते तो अर्जुनको मनहीमन शंका होआयी, कि ऐसी विशेषता क्यों ? क्या कारण है, कि देवगणोंको भी यह भगवानका विश्वरूप सुष्टुप्रकारसे देखनेमें नहीं आता । सबके हृदयोंके जाननेवाले भगवान् अर्जुनकी इस शंकाको जानकर उसके सन्देह निवारणार्थ कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जब तक कोई प्राणी मेरा भक्त न हो तबतक [नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया] न तो मैं ऋक्, यजु, सामादि चारों वेदोंको उनके अंगों सहित अध्ययन करनेसे; न सैकडों वर्ष तप करनेसे अथवा कृच्छ्रचान्द्रायण, मौन इत्यादिके साधनसे, न किसी प्रकारके दानसे एवं यागादि अथवा षोडशविधिपूजनादिसे भी [शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा] इस प्रकारके स्वरूपको दिखलानेमें समर्थ नहीं हूं जैसा, कि तूने अभी देखा है ।

मुख्य अभिप्राय भगवान्के कहनेका यही है, कि जबतक प्राणी के हृदयमें मेरी भक्तिकी ज्योति पूर्णप्रकार उदय न हो ले तबतक वह चाहे किसी प्रकारके उत्तमसे उत्तम कर्मोंका साधन क्यों न करता रहे पर उसके हृदयमें अंधकार बना रहनेसे वह मेरे इस विश्वरूपका दर्शन नहीं पासकता यही सिद्धान्त है और निश्चय है ॥ ५३ ॥

यह भक्ति भी किस प्रकारकी होनी चाहिये जिससे यह रूप देखा जावे सो भगवान् अर्जुनके प्रति उपदेश करते हुए कहते हैं—

मू०— भक्त्या त्वनन्यया शक्य* अहमेवंविधोऽर्जुन ! ।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन, प्रवेष्टुञ्च परन्तप ! ॥ ५४॥

पदच्छेदः— [हे] परन्तप ! (परान् रागादिशत्रून् तापयतीति परन्तपः तत्सम्बुद्धौ परन्तप ! अज्ञान शत्रुदलने समर्थो वा) अर्जुन !, एवंविधः (एवं प्रकारः) अहम् (वासुदेवः । विश्वरूपधरः) अनन्यया (न विद्यते अन्यो द्वितीयः यस्याः सा अनन्या अव्यभिचारिणी । तथा भगवतो वासुदेवादन्यत्र पृथक्कदाचिदपि या न भवति तया ईश्वरे परानुरक्तिलक्षणया वासुदेवादन्यत्र सर्वकर्मप्रवृत्ति निवारकया) भक्त्या (प्रेम्णा आराधनेन) तु + ज्ञातुम् (ज्ञानेन विषयीकर्तुम्) शक्यः (समर्थः) तत्त्वेन (परमार्थतः) द्रष्टुम् (प्रत्यक्षतः अवलोकयितुम्) च, प्रवेष्टुम् (तादात्म्यं प्राप्तुम् । मोक्षं गन्तुम्) च [शक्यः] ॥ ५४ ॥

पदार्थः— (परन्तप !) हे अज्ञानरूप शत्रुका तपानेवाला (अर्जुन !) अर्जुन ! (एवंविधः) इस प्रकार (अहम्) मैं सर्वेश्वर (अनन्यया भक्त्या) अनन्य भक्तिसे ही (तु) निश्चय करके (तत्त्वेन) परमार्थदृष्टिसे अर्थात् यथार्थरूपसे (ज्ञातुम्)

* छान्दसो विसर्गलोपः ।

+ भक्तीतरसाधनव्यवच्छेदार्थः ' तु ' शब्दः ।

बोध कियेजाने (द्रष्टुम् च) अवलोकन कियेजाने (प्रवेष्टुं च) और प्रवेश करजानेके (शक्यः) योग्य हूं ॥ ५४ ॥

भावार्थः— श्रीवासुदेव देवकी नन्दन भक्तउरचन्दन भगवान श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं, कि हे अज्ञानरूप शत्रुका तपानेवाला अर्जुन! इस प्रकार मैं सर्वेश्वर निश्चय कर अनन्य भक्तिसे ही भक्तोंके द्वारा परमार्थदृष्टि अर्थात् यथार्थरूपसे जानने, अवलोकन कियेजाने और मेरे स्वरूपमें प्रवेश कियेजानेके योग्य हूं। अर्थात अनन्यभक्तिसे ही प्राणी मुझे तत्त्वतः जानसकते हैं, देख सकते हैं और मुझमें प्रवेश करसकते हैं।

इतना सुन अर्जुनके मनमें यह शंका हुई, कि फिर वह कौनसा उपाय है? जिससे तुम्हारा यह विश्वरूप देखाजासकता है। इसी सन्देहके निवारणार्थ भगवान कहते हैं, कि [भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन !] जो प्राणी मेरे में अनन्य भक्ति करता है अर्थात मेरे अतिरिक्त कहीं भी किसी अन्य देव देवीको नहीं जानता है उसी प्राणीके लिये हे अर्जुन! मैं इस प्रकार बोध कियेजानेके योग्य हूं। अर्थात् जो प्राणी मुझसे भिन्न किसी पदार्थको नहीं देखता और "सापरानुरक्तिरीश्वरे" इस वचनके अनुसार केवल मुझहीमें परमप्रेम करनेवाला है तथा "अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता" इस नारदभक्तिसूत्रको भली भांति स्मरण रखता हुआ तदनुसार आचरण करता है और मुझ वासुदेव सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी विश्वरूपको छोड अन्य सब आश्रयोंको त्याग "तस्मै अनन्यता तद्विरोधिषूदासीनता" इस सूत्रके अनुसार मुझमें ही अनन्यता रखता है और सबोंसे उदासीन रहता है जैसे चातक स्वातिके साथ, चकोर चन्द्रके साथ, नदियां

समुद्रके साथ और पतिव्रता अपने पतिके साथ अनन्य है इसी प्रकार जो भक्त मेरी ही भक्तिमें अनुरक्त है वही अनन्यभक्त कहलाता है और ऐसे ही भक्तोंके द्वारा [ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप !] मैं जान लियेजानेको, अवलोकन कियेजानेको और प्रवेश कियेजानेको समर्थ हूं । हे परन्तप ! अज्ञानरूपशत्रुका नाश करने वाला पार्थ ! तू निश्चय करके इतना अवश्य जानले, कि वही प्राणी जिसमें अनन्य भक्ति लहलहा रही है मुझे इस प्रकार जानसकता है, अवलोकन करसकता है और मुझमें प्रवेश करसकता है ॥ ५४ ॥

अब भगवान् अपने भक्तोंकी अनन्यताका पूर्ण लक्षण भक्तजनोंके अनुष्ठान करनेके लिये अगले श्लोकमें वर्णन करते हैं—

मू०— मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ! ॥५५॥

पदच्छेदः— मत्कर्मकृत (मदर्थमत्प्रीतये वैदिकं लौकिकं कर्म करोति यः) मत्परमः (अहमेव परमः उत्कृष्टो यस्य अथवा अहमेव परा गतिर्यस्य सः) मद्भक्तः (मामेव सर्वभावेन सर्वात्मना सर्वोत्साहेन भजति यः) संगवर्जितः (धनमित्रपुत्रकलत्रबन्धुवर्गसंगेन रहितः) सर्वभूतेषु (समविषमेषुजीवेषु) निर्वैरः (मद्दर्शनेन निर्गतं वैरं यस्मात् सः। आत्मनोऽत्यन्तापकारप्रवृत्तेष्वपि शत्रुभावरहितः) सः, माम् (सर्वोपादानं परमानन्दरूपम्) एति (प्राप्नोति) ॥ ५५ ॥

पदार्थः— (पाण्डव !) हे पाण्डुकुलशिरोमणि अर्जुन ! (यः) जो प्राणी (मत्कर्मकृत) मेरे ही निमित्त वैदिक लौकिक सब कर्मोंको

करता रहता है और (मत्परमः) मुझहीको अपना परमपुरुषार्थ जानता है (मद्भक्तः) जो मेरा भक्त सर्वभावसे मुझहीको भजता है तथा (संगवर्जितः) धन, मित्र, कलत्र, पुत्र इत्यादि सर्वप्रकारके संगसे रहित है (सर्वभूतेषु निर्वैरः) सब जीवोंसे जो वैर रहित (च) भीहै (सः) सो ही प्राणी (माम) मुझ परमानन्दरूपको (एति) प्राप्त करता है ॥ ५५ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अर्जुनसे अपने अनन्यभक्त का स्वरूप वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः] हे अर्जुन ! जो प्राणी मेरेही निमित्त सब कर्मोंको करता है और मुझहीको अपना परम पुरुषार्थ जानता है तथा सब भावों से मुझहीको भजता है अर्थात् जो प्राणी मुझको प्राप्त करनेके तात्पर्यसे केवल मुझहीमें प्रेमकरनेके लिये तथा उस प्रेमको धीरे २ बढाकर स्थायी करनेके तात्पर्यसे सर्व प्रकारके लौकिक और वैदिक कर्मोंका सम्पादन करता रहता है और मुझसे अतिरिक्त इस संसारमें चक्र-वर्तीके सुख तथा परलोकमें इन्द्रादिके सुखोंका भी तिरस्कार करता हुआ केवल मेरे मिलनेके सुखके लिये सर्वप्रकारके कर्मोंका सम्पादन करता है। अथवा यों समझो, कि मेरा भक्त ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरणको जिस किसी भी कर्मकी ओर लगाता है वह मानो मेरे ही लिये करता है।

प्रिय पाठको ! भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे रात्रिमें शयन करनेके समय भक्त ऐसा ध्यान करता है, कि

श्यामसुन्दर शयन कररहे हैं और मैं उनके कोमल चरणों को हृदयमें लगाये दाब रहा हूं एवम्प्रकार चरणोंको दाबते हुए मानो आप भी शयन करगया और मनमोहन मुरलीमनोहरको भी शयन करा दिया। यदि इस प्रकार जाग्रतसे वहस्वप्नमें प्रवेश करगया तो वहां भी उसने भगवतको वैसा ही देखा जैसा, कि जाग्रतमें ध्यान कररहा था अर्थात् ऐसे अभ्यास करते करते किसी न किसी दिन वह भक्त अपने परम मनोहर इष्ट देवको प्रत्यक्ष कर ही लेगा।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि अपने शयनके समय भगवान्का शयन समझे और जागते समय भगवान्का जागना समझे। एवंप्रकार बैठते समय भगवान्का अपने समीप बैठना समझे और खडे होते समय भगवान्का खडा होना समझे तथा मार्ग चलते समय ऐसा समझे, कि मैं अपने प्राणनाथके साथ-साथ हाथावांही किये हुए मार्गमें चला जारहा हूं जैसे परस्पर दो मित्र बातें करते मार्गका आनन्द लेते चलते हैं। फिर भोजन करते समय ऐसा ध्यान करे, कि नाना प्रकारके पक्वान्नोंको जो सूप-कारने आगे लाधरा है वह मानो श्रीहरि स्वयं भोजन कररहे हैं उनके भोजनके पश्चात् जो उनका जूठन है वह मैं भोजन कररेहा हूं।

नाना प्रकारके इतिहासोंसे ऐसा भी पायाजाता है, कि जिस भक्तकी भक्ति अत्यन्त उच्च श्रेणीको पहुंच चुकी है वह भगवान्के साथ-साथ भोजन करता देखा गया है।

प्रमाण—" दध्योदनं समानीतं शिलायां सलिलान्तिके।
संभ्भोजनीयैर्बुभुजे गोपैः संकर्षणान्वितः ॥ "

(श्रीमद्भागत० स्कं० १० अ० २ श्लो० २६)

श्रीकृष्ण भगवान् बलरामजीके साथ तथा अपने संग भोजन करने योग्य ग्वालबाल सखाओंके सहित जलधाराके समीप किसी शिला पर बैठ घरसे लाये हुए दही भातका भोजन करते थे।

यदि शंका हो तो ब्रजमें जाकर ग्वालबालोंको देखो। इससे सिद्ध होता है, कि भगवान् स्वयं अपने भक्तोंके साथ भोजन किया करते हैं।

यह तो लौकिककर्मोंके विषय वर्णन किया गया अब इसी प्रकार पारलौकिक कर्मोंको भी भगवान्के मिलनेके ही प्रयोजनसे करे। जैसे कभी किसी तीर्थको जारहा है तो ऐसा न संकल्प करे, कि इस तीर्थसे मैं स्वर्ग जाऊंगा अथवा धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्रादि पाऊंगा वरु यही संकल्प करे, कि भगवच्चरणोंकी प्रीति मेरे हृदयमें बढे और तीर्थकी ओर चलते समय ऐसा ध्यान करे, कि मेरे प्राणवल्लभ श्रीहरि अमुक स्थानमें मिलेंगे मैं उन्हींको ढूंढने जारहा हूं।

कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जैसे कोई मित्र अपने खोये हुए मित्रके ढूंढनेमें भूखा प्यासा मार्गमें खाक छानता हुआ देश विदेश मारा फिरता है और जब कहीं कुछ पता नहीं लगता तब रात्रिको कहीं किसी वृक्षके नीचे अपने प्रेमीके विरहमें रोताहुआ रात्रि बितादेता है। फिर सूर्योदय होते ही अपने मित्रका मार्ग लेता है। इसी प्रकार जो भक्त भगवत्के प्रेममें मग्न, मानो उनकी ढूंढमें तीर्थोंका मार्ग लेता है उसीका तीर्थ यथार्थ तीर्थ है।

इसी प्रकार व्रत करनेवाले जो एकादशी व्रत करते हैं इनमें कितने तो जिसदिन एकादशी होती है प्रातःकालहीसे पेडा दूध मलाई

के यत्नमें लगजाते हैं और फलाहार करते समय रात्रिको अन्य रात्रियोंकी अपेक्षा दूना भोजनकर रातभर खर्राटे लिया करते हैं ऐसे एकादशी करनेवालोंको एकादशीका कुछ भी फल नहीं होता है। पर यथार्थव्रतकरनेवाला वही है जो व्रतके दिन उदासीन होकर, भोजन इत्यादिकी चिन्ता छोड, भगवत्के न मिलनेकी चिन्ता तथा उनके विरहमें व्याकुल हो अन्नादिको परित्याग करदेता है और बिना अन्न पानी सारा दिन सारी रात विरहमें बितादेता है और यही चिन्ता करता है, कि हे नाथ! आज कार्त्तिककी भी एकादशी बीतगयी अब तक आपकी कृपादृष्टि मुझपर न हुई वह एकादशीका दिन कब होगा, जिसदिन तुम मुझपर वैसी कृपादृष्टि करोगे जैसी महाराज अम्बरीषपर की थी इस प्रकार भगवत्से मिलनेकी चिन्तामें भूखे प्यासे रहजाना यथार्थ एकादशीव्रत है। हँसी आती है उनलोगोंकी बुद्धिपर जो यह कहा करते हैं, कि पन्द्रह दिन जो खाते पीते हैं उस अन्नादिका विकार जो शरीरमें बढजाता है उसके जलादेने और पचादेनेके लिये एकादशीका व्रत महात्माओंने निकाला है यदि ऐसाही है तो केवल एकादशीपर निर्भर रहना क्यों? जिसी दिन चाहो भूखे रहकर सब विकारोंको जलादो। इसी प्रकार दर्शपौर्णमास अर्थात् अमावस्या और पौर्णमासीके दिन जो हवन इत्यादि करते हैं उसके यथार्थ सम्पादन करनेवाले वे ही हैं जो भगवत्के प्रेममें यों ध्यान करते हैं, कि इस महीनेके भी पन्द्रह दिवस आज बीतगए, यह कृष्णपक्ष भी कृष्ण बिना सूना ही बीतगया फिर पौर्णमासीके दिन ऐसा ध्यान करते हैं, कि हा! हे भगवन्! इस महीनेका चन्द्रपक्ष भी बिना

तुम्हा चन्द्रवदनके दर्शन हुए उदासीनतासे भराहुआ बीतगया। एवम्-प्रकार जो प्रेमकी आगमें अपने तनमनको भस्म करते हैं वे ही यथार्थ दर्श और पौर्णमासके सम्पादन करने वाले हैं।

इसी प्रकार कृच्छ्रचान्द्रायण इत्यादि कर्मोंको भी जानना अर्थात् केवल भगवत् प्राप्तिकेही निमित्त इन व्रतोंका क्लेश सहना है स्वर्गादि सुख तथा धन सम्पत्तिके लिये नहीं। इन्ही प्रकार कर्मोंके सम्पादन करनेके विषय भगवानने "मत्कर्मकृत्" शब्दका उपदेश अर्जुनको किया है।

अब भगवान् कहते हैं, कि "मत्परमः" जिसने मुझहीको अपना परम पुरुषार्थ जाना है। तात्पर्य यह है, कि बहुतेरे प्राणी जो अपनी वीरता, बुद्धि, धन, राज्य, कटक, पुरजन, परिजन, बन्धु मित्र इत्यादि द्वारा बडे-बडे कठिन कार्योंके साधनकरनेको परमपुरुषार्थ समझते हैं यह उनकी भूल है पर जो अनन्यभक्त हैं वे ऊपर कथन कियेहुए धन, जन, सम्पत्ति, पुरजन, परिवार तथा अपनी बुद्धि पराक्रम इत्यादिका कुछ भी भरोसा नहीं करते चाहे कितना भी कठिनसे कठिन कार्य वा आपत्ति क्यों न सम्मुख आजावे पर अनन्यभक्त अन्य आश्रयोंको त्याग केवल भगवत्चरणोंका आश्रय लेते हैं और भगवत्के अवलम्बही को अपना परम पुरुषार्थ जानते हैं। जैसे द्रौपदीने नग्न होते समय अपने बडे-बडे वीर पुरुषार्थी पाण्डवोंका कुछ भी आश्रय न लेकर भगवत्को पुकारा, गजने ग्राहसे लडते समय अपने सारे पुरुषार्थको तिलांजलि दे उसी महाप्रभुका आश्रय लिया इत्यादि।

भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि द्रौपदी, गज तथा प्रह्लादादि अनन्यभक्तोंके समान जो मुझहीको अपना परमपुरुषार्थ जानता है वही ' मत्परमः ' कहाजाता है ।

अथवा यों अर्थ करलीजिये, कि श्रीआनन्दकन्द सच्चिदानन्द कृष्णचन्द्रही जिस प्राणीकी परम गति हैं अर्थात् जो प्राणी मुक्तिका भी निरादर करके केवल अपने प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर की प्राप्तिहीको अपनी परम गति समझता है उसीके लिये भगवानने इस श्लोकमें मत्परमः शब्दका प्रयोग किया है ।

अथवा यों अर्थ करलीजिये कि जिस प्राणीने अपनी आयुष्पर्यन्त जो कुछ पुरुषार्थ करलिया उसका फल केवल भगवत्स्वरूपमें लय होजाना ही समझता है उसीके विषय भगवान् 'मत्परमः' शब्दका प्रयोग कररहे हैं।

अब भगवान कहते हैं, कि ' मद्भक्तः ' जो मुझे सर्वभावोंसे भजता है और पिपीलिकासे ब्रह्मापर्यन्त तथा तृणसे पर्वत पर्यन्त सब को मेरा ही रूप जानता है फिर मुझहीको सर्वात्मभावसे सर्वप्रकार उत्साह सहित अहर्निश स्मरण करता रहता है मेरे बिना अन्य किसीको कभी भी चित्तमें नहीं लाता । यदि यह कहो, कि वह अपने पुत्र कलत्रमें लगा हुआ उनके भोजन, आच्छादन इत्यादिकी चिन्तामें मग्न उन की हानि और लाभको स्मरण रखता है तो हे अर्जुन ! तू ऐसा जानले, कि तेरे सदृश जो मेरा अनन्यभक्त है वह 'संगवर्जितः' सर्वप्रकारके संगोंसे विलग रहता है अर्थात किसीमें उसके चित्तका अटकाव नहीं रहता अपना पराया सबको एकसमान जानता हुआ सबोंसे विलग रहता है ।

यदि ऐसा कहो, कि वह निस्संग रहे तो रहे पर संसारमें जो उसके शत्रु हैं वे तो उसे न छोड़ेंगे बरबस उसके पीछे लगकर उसकी हानि पहुंचानेका यत्न करेंहीगे। तो उत्तर यह है, कि [निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव!] जो मेरा भक्त सब जीवोंसे निर्वैरभाव रखता है वही मुझ परमानन्दस्वरूपकी उपलब्धि करता है किसीसे कुछ भी वैर नहीं रखता अर्थात् ऐसे प्राणीके प्राणका कोई घातकभी क्यों न हो पर वह उसकी कुछभो चिन्ता नहीं करता क्योंकि वह शत्रु, मित्र, सबको मेरा स्वरूप ही जानता है फिर वह वैर किससे करे। जब वह किसीका भी वैरी नहीं है तो उसका भी कोई वैरी नहीं होसकता। भगवान् पहले कहआये हैं, कि "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन!। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः" (अ० ६ श्लोक ३२) हे अर्जुन! जो पुरुष सब प्राणियोंको अपने समान देखता है तथा सुखदुःखमें समबुद्धि रहता है मेरे जानते वही सब योगियोंमें उत्तम है। इसलिये जो मेरा उत्तम भक्त है वह सबको एकसमान अपने ऐसा देखता हुआ किसीसे वैरभाव नहीं रखता इसी कारण अन्य भी कोई उसका वैरी नहीं अतएव वह प्राणी निर्वैर होनेके कारण सदा निःसंग रहता है। फिर यह भी कहआये हैं, कि "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" (अ० ६ श्लो० ५) अपना ही आत्मा अपना बन्धु है और शत्रु है। अभिप्राय यह है, कि प्राणी यदि किसी से वैर न करे तो कोई उससे वैर नहीं करेगा सब उसके बन्धु, मित्र और सहायक बनेरहेंगे और जब आप किसीसे वैर करेंगे तो उसके

भी वैरी खड़े होजावेंगे यह सिद्धान्त है। इसी कारण भगवद्भक्त जो सब जीवोंसे निर्वैर है तिसका कोई वैरी नहीं होता।

शंका— जो भगवद्भक्त होते हैं उनके तो बिना प्रयोजन ही अनेक शत्रु खड़े होजाते हैं और उनको नाना प्रकारके क्लेश पहुंचाते हैं। भगवद्भक्त तो शान्तस्वरूप होते हैं फिर क्या कारण है ? कि बैठे-बिठाये सबसे उदासीन रहते भी उनके आसपासके प्राणी उनसे शत्रुता करने लगते हैं ?

समाधान— इसका कारण यह है, कि इस संसारमें दो प्रकारकी सम्पदाओंसे सदा सब जीवोंकी उत्पत्ति है— आसुरी और दैवी। इन दोनों सम्पदाओंमें जो दैवी सम्पदासे उत्पन्न हैं वे तो भगवद्भक्तोंको देखकर प्रसन्न होते हैं दण्डवत् प्रणाम करते हैं उनसे अपने कल्याण निमित्त शिक्षा लेते हैं और जो आसुरी सम्पदाके जीव हैं वे बिना प्रयोजन भी भक्तोंको देखते ही नाक सिकोड़ते हैं, उनसे शत्रुता करते हैं, उनकी उन्नति देखकर जलते हैं और उनको हानि पहुंचाना चाहते हैं पर बुद्धिमानोंको और हरिभक्तोंको भगवत्की महिमाको सदा स्मरण रखना चाहिये, कि जब-जब दुष्ट प्राणी भक्तोंको अधिक दुःख देने लगते हैं तब-तब भगवान् स्वयं अवतार लेकर उनकी रक्षा करते हैं।

यह वार्ता प्रसिद्ध है, कि प्रह्लादको दुःख देते-देते जब हिरण्यकश्यपने खंभमें बांधकर खड्गसे दो टुकड़े करना चाहा तो उसी क्षण नृसिंह भगवान्‌ने उस खंभसे प्रकट हो उस दुष्टका नाश करडाला।

इसीप्रकार भगवान् आज भी हमारी आपकी सहायता निमित्त शत्रुओंको और दुष्टोंको दमन करनेको तयार है अतएव भगवद्भक्तों को दृढ विश्वास रखना चाहिये, कि जब विना प्रयोजन दुष्टप्राणी उनको सताने लगेंगे तो अवश्य भगवान् चाहे स्वयं प्रकट होकर, चाहे गुप्तरीतिसे अथवा किसी दूसरे उपाय द्वारा अवश्य दुष्टोंको नाश कर उनकी रक्षा करेंगे। यह अटल सिद्धान्त है और चारों युगोंके लिये एक समान है। शंका मत करो!

अब यहां विचारनें योग्य है, कि भगवान ने अर्जुनसे अपने अनन्य भक्तका लक्षण वर्णन करते हुए पांच विशेषणोंसे भक्तोंको विभूषित किया।

१. मत्कर्मकृत, २. मत्परमः, ३. मद्भक्तः ४. संगवर्जितः, ५. सर्वभूतेषुनिर्वैरः ये पांचों गुण जिस भक्तमें एक संग निवास करते हों उसीको अनन्य भक्त कहना चाहिये।

अब भगवान कहते हैं, कि "यः स मामेति पाण्डव!" हे पाण्डव! श्रेष्ठ प्रतापी पार्थ! जो मेरा भक्त इस प्रकार अनन्यतासे विभूषित है वही मुझको प्राप्त करता है अर्थात् मेरे संग सदा विहार करनेका अधिकारी होता है। मैं उसका होता हूं और वह मेरा होता है।

श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्द्रके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि मेरा अनन्यभक्त सब देव, देवियोंमें मुझहीको देखता है और सबोंको मेराही स्वरूप जानता है इस कारण और किसी विशेष अवस्थामें वह किसी

अन्यलोकोंमें भी जापड़े तो वहांभी वह मानो ! मेरे ही संग मिलनेका सुख पाता है। मेरा अनन्य भक्त सदा मेराही भजन करता रहता है।

प्रमाण श्रु० — " ॐ त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः। त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः। त्वमन्नस्त्वं यमस्त्वं पृथिवी त्वं विश्वस्त्वमथाच्युत। स्वार्थस्वभाविकेऽर्थे च बहुधा संस्थितिस्त्वयि " (मैत्र्यु प० प्रपा० ५ श्रु० २)

अर्थ— हे भगवान ! तुम्हीं ब्रह्मा हो, तुम्हीं विष्णु हो, तुम्हीं रुद्र हो, तुम्हीं प्रजापति हो, तुम्हीं अग्नि हो, तुम्हीं वरुण हो, तुम्हीं वायु हो, तुम्हीं इन्द्र हो, तुम्हीं चन्द्रमा हो, तुम्हीं अन्न हो, तुम्हीं सबोंको दण्ड देनेवाले यम हो, तुम्हीं पृथिवी हो, तुम्हीं संपूर्ण विश्व हो, तुमही अच्युत भगवान हो इसी कारण प्राणियोंके अपने अर्थ साधननिमित्त जो पुरुषार्थ हैं उन्हीं पुरुषार्थोंके द्वारा नाना प्रकारकी निष्ठाओंसे तुम्हारे ही स्वरूप में उनकी स्थिति है। अथवा यों अर्थ करलीजिये, कि स्वार्थसिद्धि अथवा स्वाभाविक सिद्धि किसीभी प्रवृत्तिमें तिनकी निष्ठा तुम्हारेहीमें है।

भगवान्ने जिस अभिप्रायको इस ५५वें श्लोकमें अर्जुनके प्रति कथन किया है वही ठीक ठीक इस श्रुतिसेभी सिद्ध होता है अतएव अनन्यभक्तों को तो भगवान्के इस वचनको हृदयपतपर लिख लेना चाहिये और जो इसमें पांच गुण अनन्यभक्तोंके कथन किये गये उनका अभ्यास नित्य बढाना चाहिये जिससे भगवतस्वरूपमें जा मिलें और फिर कभी इस आवागमनके चक्रमें न पडकर परमपदका सुख सदा भोगते रहें ॥ ५५ ॥

केयूरचुम्बितमनोहरबाहुयुग्मम् ।
यच्चार्प्पितं भवति कंठतटे स्वमातुः ।
दुःखं विनाशयति संयतश्रृंखलायाः,
जाने कदा तदिह माल्यति हंस कण्ठे ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्यां टीकायां
विश्वरूपदर्शननाम एकादशोऽध्यायः ।

महाभारते भीष्मपर्वणि तु पचंत्रिंशोऽध्यायः ॥

इति एकादशोऽध्यायः

इति श्रीमद्भगवद्गीता–श्लोकानुक्रमणि